REGD. NO. L. 2077

भक्ति

वर्ष १] अङ्क ११]

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

भगवद्गीता विमृष्यानां शास्त्र गर्तेषु पतताम् ।
न ह्यन्यं त एवास्य स्यात् लोकस्य शर्मदम् ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥

आदिन सरवत् १९८४ ।

भक्ति के नियम।

१. भगवान् की भक्ति का प्रचार करना गो रक्षण और उस के लिए गोचर भूमि छुड़वाना, जलाशय बनवाना, मनुष्य मात्र के लिए शिक्षा का प्रचार करना। वैदिक अनुभूत औषधियों का प्रचार करना, ग्रामों में परस्पर के झगड़े और वैमनस्य मिटा कर शान्ति व मेल बढ़ाना। सब संस्थाओं में भगवद्भक्ति और धर्म का भाव जाग्रत करना। राजा और प्रजा सब ही का हित चिन्तन करना।

२. यह पत्र प्रतिमास की पूर्णिमा को प्रकाशित हुआ करेगा।

३. वार्षिक चन्दा सर्वसाधारण से २) होगा।

४. जो महानुभाव २५) रुपया देंगे वह पत्र के संरक्षक और ५) देने वाले सहायक होंगे।

५. अश्लील और अपरिचित विज्ञापन नहीं लिए जावेंगे।

६. लेखों को प्रकाशित करना और और घटाना व बढ़ाना सर्वथा सम्पादक के अधिकार में होगा।

७. लेख सम्बन्धी पत्र व्यवहार सम्पादक के नाम से और विज्ञापन व पत्रव्य सम्बन्धी पत्र व्यवहार मैनेजर भक्ति के नाम से होना चाहिए।

विषय सूची।

नं०	विषय	पृष्ठ
१.	मङ्गलाचरण।	१
२.	जयदेव जी। (सम्पादक)	४
३.	परोपकार करो। (ले० हीरानन्द ब्रह्मचारी)	७
४.	शाश्वत जीवन। [ले० रामचन्द्र जी जज एम० ए०)	१२
५.	गाई और धर्म पर एक कथा।	३४
६.	त्याग ही सर्व श्रेष्ठ है। [ले० भूमानन्द ब्रह्मचारी]	१७
७.	श्रद्धा। [सम्पादक]	२१
८.	गात्रोत्सर्ग का जनक को उपदेश।	२४
९.	भजन।	२८
१०.	कुछ अनुभूत प्रयोग। [ले० हीरानन्द ब्रह्मचारी]	३२

ॐ

"कर्त्तातु केवला भक्तिः"।

वार्षिक चन्दा २)

सम्पादकः-

एक प्रति का ।)

स्वामी कृष्णानन्द सरस्वती ।

जनता में भगवद्भक्ति भाव को जाग्रत करने वाली मासिक पत्रिका ।

वर्ष १ } भगवद्भक्ति आश्रम रेवाड़ी, श्रावण पूर्णिमा सं० १९८४। { अङ्क ११

॥ मंगलाचरणम् ॥

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै जेष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ १ ॥

जो भूत में है, जो भविष्यत् में है, जो सब पर शासक के रूप में विराज रहा है, स्वर्गीय सुख परमज्ञानन्द ही जिसका परम धाम है उसी परब्रह्म परमात्मा के लिये प्रणाम हो ॥ १ ॥

भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये येनासमत्सु सासहः।
अवस्थिरा तनुहि भूरि शर्धतां वनेमा ते अभिष्टिभिः ॥ २ ॥

हे स्वामिन्! आसुरी वृत्ति पर विजय पाने केलिये हमारे मनों को दिव्य बनादो, जिससे

कि वह प्रत्येक आसुरी भाव के संग्राम में सहनशील एवं विजयी हो, इन बढती हुई आसुरी वृतियों का पराजय हो और सब अपनी मानसिक भावनाओं कीसहायतासे आपका भजन करने वाले हों ॥ २ ॥

यदाशसा निःशसाभि शसोपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः ।
अग्निर्विश्वान्यपदुष्कृता न्यजुष्टान्यारे अस्मद्दधातु ॥ ३ ॥

हम से यदि इच्छा पूर्वक अनिच्छा पूर्वक, अथवा किसी कारण विशेष से जागते हुए भी या सोते हुए भी किसी पाप की संभावना होतो, परम प्रकाशदेव परमात्मा ऐसे तमाम असेवनिय दुःष्कर्मों को हम से अति दूर रखने की कृपा करें ॥ ३ ॥

त्वन्नः पश्चादधरादुत्तरात् पुर इन्द्र नि पाहि विश्वतः ।
आरे अस्मत् कृणुहि दैव्यं भयमारे हेतीरदेवीः ॥ ४ ॥

हे परम धन परमेश्वर ! हमें पीछे से, नीचे से, उत्तर से सामने से और हे ! स्वामिन् चारों ओर से निर्भय करदा । कोई भी दैवी मानुषी और राक्षसी भय कहीं से भी हमें विचलित न करसके ॥ ४ ॥

दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्व मराय्यः ।
दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि ॥ ५ ॥

हे परम पिता ! बुरे स्वप्न, बुरी जीवन वृत्ति, दुर्भाव रूप राक्षसीवृत्ति, महा कृपणता, दरिद्रता और बुरी कही जाने वाली सभी वृत्तियोंको हम अपने जीवन से नष्ट करसकें यही हमारी आन्तरि भावना है ॥ ५ ॥

नमो नमः कारण वामनाय, नारायणायामितविक्रमाय ।
श्रीशार्ङ्गचक्रासि गदाधराय, नमोस्तु तस्मै पुरुषोत्तमाय ॥ ६ ॥

कारण रूपी वामन सूक्ष्म के अर्थ नमस्कार है, नारायण अतुल पराक्रम वाले श्रीशार्ङ्ग धनुष चक्र गदा धारण करनेवाले तिस पुरुषोत्तम देव के अर्थ नमस्कार है ॥६॥

गुह्याय वेद निलयाय महोदराय, सिंहाय दैत्य निधनाय चतुर्भुजाय।
ब्रह्मेन्द्ररुद्र मुनि चारण संस्तुताय, देवोत्तमाय वरदाय नमोऽच्युताय ७॥

गुह्य स्वरूप, वेद के स्थान, महान् उदर वाले, सिंह स्वरूप दैत्यों को नष्ट करने वाले, चतुर्भुज स्वरूप वाले ब्रह्मा, इन्द्र, शिव मुनि चारण इन्हों करके संस्तुत देवताओं में उत्तम वरदाई अच्युत देव के अर्थ नमस्कार है ॥७॥

गोविन्द केशव जनार्दन वासुदेव, विश्वेश विश्व मधुसूदन बिश्वरूप,
श्रीपद्मनाभ पुरुषोत्तम पुष्कराक्ष, नारायणाच्युत नृसिंह नमो नमस्ते ॥ ८

हे गोविन्द, हे केशव, हे जनार्दन, हे वासुदेव, हे विश्व के स्वामी, हे विश्व, हे मधुसूदन, हे विश्वरूप, हे पद्मनाभ, हे पुरुषोत्तम, हे पुष्कराक्ष, हे नारायण, हे अच्युत, हे नृसिंह ! तुमको बारम्बार नमस्कार है ॥८॥

ब्रजे प्रसिद्धं नवनीत चौरं, गोपाङ्गनानाञ्चदुकूल चौरम्।
अनेक जन्मार्जित पाप चौरं चौरागृगण्यं पुरुषं नमामि ॥ ९ ॥

ब्रज में प्रसिद्ध मक्खन के चोर तथा गोपी जनों के वस्त्रों के चोर और अनेक जन्मों के इकट्ठे किये हुए पापों के चुराने वाले चोरों में अगृगण्य कृष्ण भगवान् को नमस्कार करता हूं ॥ ९ ॥

श्रीराधिकाया हृदयस्य चौरं, नवाम्बुजस्यामल कान्तिचौरम्।
अनेक जन्मार्जित पाप चौरं, चोरागृगण्यं पुरुषं नमामि ॥ १० ॥

श्री राधिका के मन को चुराने वाले नवीन कमल की कान्ति को हरण करने वाले और अनेक जन्मों के एकत्रित किये हुए पापों को चुराने वाले चोरों में अगृगण्य कृष्ण भगवान् को नमस्कार करता हूं ॥१०॥

नारायणो नाम नरो नराणां, प्रसिद्ध चौरः कथित पृथिव्याम्।
अनेक जन्मार्जित पाप सञ्चयं हरत्यशेषं स्मृतां सदैव ॥ ११ ॥

नारायण नाम का पुरुष मनुष्यों में पृथिवी पर प्रसिद्ध चोर कहा है जीसका सदा स्मरण करते हैं उनके जन्मान्तरों के किये हुए सम्पूर्ण पापों को हरलेता है ॥११॥

जयदेव जी ।

जयदेवजी भगवान के परम भक्त हुए हैं । संस्कृत साहित्य में यह कवि सम्राट् और चक्रवर्ती कहलाते हैं । वैसे तो इन के बनाये हुए अनेक ग्रन्थ हैं परन्तु इनमें सब से अधिक प्रसिद्ध गीत गोविन्द है । गीत गोविन्द की रचना अद्वितीय है । यह गायन में इतना मधुर और भक्ति रस से भरा हुआ ग्रन्थ है कि, संस्कृत भाषामें भक्ति साहित्य का ऐसा दूसरा ग्रन्थ देखने में नहीं आता । किंदविल्व नामके एक ग्राम में जयदेवजी का जन्म एक ब्राह्मण के घर हुआ । यह बाल्य अवस्था से ही बड़े वैराग्यवान् व त्यागी थे । एक गुदड़ी और एक कमण्डल के सिवाय अपने पास कुछ नहीं रखते थे और मकानों को छोड़ कर जङ्गलों में घूमते रहते थे और एक वृक्ष के नीचे एक रात्री से अधिक निवास नहीं करते थे ।

इनको संसार में कुछ भी प्रीति न थी पूर्ण विरक्त व त्यागी थे परन्तु भगवान् की मरजी कुछ औरही थी । काशी में एक ब्राह्मण था, उसने प्रतिज्ञा की थी कि मैं अपनी लड़की जगन्नाथ स्वामी की भेट करूंगा । जब वह अपनी लड़की जगन्नाथजी की भेट को ले गया तो वहां से आज्ञा हुई कि किंदविल्व नाम के ग्राम में जयदेव ब्राह्मण मेरा स्वरूप है यह लड़की उसको देनी चाहिये । ब्राह्मण प्रभु की आज्ञा पा कर जयदेवजी के पास गया और प्रभु का सन्देशा निवेदन किया । परन्तु जयदेवजी परम वैरागी थे उन्होंने इनकार किया और अनेक युक्तियों से ब्राह्मण को समझाया, वह समझने वाला कब था कारण भगवान की प्रेरणा थी अन्त में लड़की को समझा कर वहां ही छोड़ गया । जयदेव जी लड़की को भी बहुत समझा थके परन्तु जब वह न मानी तो भगवान की मरजी समझ एक कुटी बना कर रहने लगे और गीत गोविन्द की रचना आरंभ की । रचना करते २ जब मान लीला में यह दम आया:-

स्मर गरल खण्डनं मम शिरसि मण्डनम् ।
देहि पदपल्लवमुदारं ॥

कामदेव का विष दूर करने वाला जो आपका पवित्र चरण कमल उसको मेरे मस्तक पर शोभायमान करो । इस में भगवान के मुख से राधाजी के प्रति ऐसा कहलवाने में उस को संकोच हुआ इस कारण आधा पद बना कर रख दिया और स्नान करने चले गये । भगवान इस संकोच को देख स्वयं जयदेवजी का रूप

धारण करके उस पद को लिख गये। जब जयदेवजी स्नान करके वापिस आये और पद लिखा हुआ पाया तो आश्चर्य जान पश्चात्ती से पूछा। उसने उत्तर दिया आप स्वयं ही तो अब लिख कर गये हैं। जयदेव जी भगवान की कृपा समझ बहुत आनन्दित हुए। गीत गोविन्द की ख्याति थोड़े ही दिन में समस्त देश में फैल गई। जगन्नाथपुरी का राजा विद्वान् था उस ने भी एक गीत गोविन्द बनाया और राजा ने जयदेवजी के गीत गोविन्द से मुकाबला करना चाहा। इस पर जयदेव जी का और राजा का गीत गोविन्द जगन्नाथ जी के मन्दिर में रख दिए गए। किवाड़ खोलने पर देखा कि जयदेवजी का गीत गोविन्द भगवान् ने अपनी छाती से लगा रक्खा है। इस पर राजा लज्जित होकर समुद्र में डूबने को तैयार हो गया। प्रभू ने आज्ञा की कि यह कर्म उचित नहीं है जयदेवजी की भक्ति और कविता की तुम तुलना नहीं कर सकते परन्तु प्रति सर्ग में एक श्लोक तुम्हारा भी रहेगा। एक दिन माली की लड़की अपनी बाड़ी में बैंगन तोड़ रही थी और गीत गोविन्द गाती जाती थी भगवान प्रेम से उस के पीछे २ फिरते थे। प्रातः काल जब राजा दर्शन करने के लिए मन्दिर में गया तो भगवान का झगा फटा हुआ देखा और पुजारियों से पूछा। वह कुछ उत्तर न दे सके फिर रात को भगवान ने स्वप्न में प्रकाश कर दिया। राजा ने निश्चय करके ढींडी पिटवा दी कि जो कोई गीत गोविन्द पढ़े वह शुद्ध व पवित्र स्थान में पढ़े क्योंकि गीत गोविन्द को भगवान स्वयं सुनने जाया करते हैं। इसी प्रकार एक मुगल ने उस की महिमा सुन कर उसका पाठ करना आरम्भ किया। पाठ करते २ भगवान प्रसन्न होगए और उस को दर्शन दिए। भगवान ने उस को वर मांगने के लिए कहा उसने निवेदन किया कि मैं घोड़े सहित स्वर्ग में चला जाऊं। भगवान ने उस की अभिलाषा पूर्ण कर दी।

एक समय जयदेव जी तीर्थ यात्रा करने को जा रहे थे, उनके पास कुछ रुपए थे। उनको रास्ते में ठग मिल गए। जयदेव जी ने उन की बात को समझ कर रुपए उन को दे दिए। इस पर ठगों ने सोचा कि यह चालाक आदमी है इसको मार डालना चाहिए अन्यथा यह हमको पकड़वा देगा। यह सोच उन के हाथ पांव काट कर कुएं में डाल दिया। भगवान की दया से एक राजा का वहां से गुजरना हुआ। उस ने जयदेव जी को कुएं से निकाला और कारण पूछा परन्तु उन्होंने कहा कि मैं जन्म से ही ऐसा हूं। इस पर राजा समझ गया कि यह कोई महात्मा है। उनको अपने साथ लिवा लेगया। राजा नित्य प्रति उनसे गीत गोविन्द सुनता और उन की सेवा करता पीछे जयदेव जी ने पद्मावती को भी वहां बुला लिया। रानी बड़े प्रेम से पद्मावती की सेवा करती थी। एक दिन रानी का भाई मर गया और उसकी स्त्री उस के साथ सती हो गई। रानी ने गर्व के साथ यह वृत्तान्त पद्मावती को

सुनाया। पद्मावती ने उत्तर दिया कि पति प्रेम का यह पूरा परिचय नहीं है। पति की मृत्यु की सूचना पाकर स्वयं ही प्राण पखेरू उड़ जावें तो सच्चा पति प्रेम समझना चाहिए। रानी इस बात से चिढ़ गई और उत्तर दिया कि आप के सिवाय ऐसी पतिव्रता इस जगत् में और कौन है ? साथ ही मन में निश्चय किया कि, परीक्षा करनी चाहिए, उसने राजा से कहा कि एक दिन स्वामी जी को बाग में लेजाओ और नगर में विख्यात करा दो कि स्वामी जी मर गए। राजा को रानी की बात से दुःख हुआ और कहा कि जो बात मेरे प्राणों को हरने वाली है वह न करनी चाहिए परन्तु वह न मानी लाचार राजाने यही किया और रानी उदास चित्त होकर पद्मावती के पास जा बैठी और रोने लगी। पद्मावती ने दुःख का कारण पूछा और कहा कि स्वामी जी तो प्रसन्न हैं, इस पर रानी लज्जित हुई और कुछ दिन पीछे फिर वही बात चलाई। अब पद्मावती ने समझ लिया कि यह परीक्षा के लिए पीछे पड़ी है बस उस ने रानी के मुख से स्वामी जी की मृत्यु का समाचार सुनते ही प्राण त्याग दिए। यह दशा देखते ही रानी का रक्त सूख गया राजा भी बड़ा शोकाचित्त हुआ। स्वामी जी यह समाचार सुनते ही तुरन्त आए देखा कि राजा और रानी मृत् प्रायः होरहे हैं और उन्होंने अग्निमें प्रवेश करने के लिए चिता तय्यार करवा ली है। जयदेवजी ने राजा को बहुत समझाया परन्तु वह न माना फिर उन्होंने निश्चय किया कि बिना पद्मावती के जीवित हुए राजा नहीं बचेगा। लाचार हो उन्होंने गीत गोविन्द की पृष्टपदी गाई और पद्मावती जी उठी। फिर भी राजा सावधान न हुआ फिर बोध कराके उस को अपघात से बचाया।

स्वामी जी के सत्संगसे राजा साधुओं की सेवा में प्रवृत्तहो गया था। दूर २ से महात्मा आकर उस के यहां टिका करते थे। इस ख्याति को सुनकर उन ठगों ने जिन्होंने जयदेवजी को कुएं में डाला था बिचारा कि उस राजा के पास साधु वेष बनाकर चलना चाहिए। वह आए। जयदेव जी को वहां देख कर वह डरे परन्तु सन्त दयालु होते हैं उन्होंने राजा से कह कर उन की अच्छी सेवा कराई और उन को बहुत सा द्रव्य दिलाया। राजा के नौकर उन को दूर तक पहुंचाने गए। रास्ते में नौकरों ने पूछा कि तुम्हारी स्वामी जी की क्या पहचान है जो स्वामी जी तुम पर इतने प्रसन्न हुए। उन्होंने उत्तर में कहा कि तुम्हारे स्वामी जी और हम लोग एक राजा के यहां नौकर रहते थे वहां तुम्हारे स्वामी जी से एक अपराध बन गया। इस पर राजा ने उस को मार डालने की आज्ञा दी थी परन्तु हमने दया करके केवल हाथ पाँव काट कर छोड़ दिया। उसी जान पहचान से इस ने हमारी खातिर की है। भगवान अपने भक्त का यह अपवाद न सह सके कहते हैं कि पृथ्वी फट गई और वह ठग उस में चले गये। जब नौकरों ने यह समाचार स्वामी

जी को सुनाया तो दया से उनका शरीर काँप उठा जिस के प्रभाव से उन के हाथ पांव पूर्ववत निकल आए। नौकरों ने यह दोनों दृश्य राजा को सुनाए। वह दौड़ा आया और सब वृत्तान्त जानने का आग्रह किया। लाचार उन्होंने बता दिया। राजा को बहुत विश्वास व श्रद्धा हुई।

अन्त में जयदेव जी पद्मावती सहित अपने ग्राम को चले गए। उनका ग्राम गङ्गा से १८ कोस पर था। नित्य प्रति गङ्गा स्नान करने जाते थे परन्तु वृद्ध शरीर होने के कारण कष्ट होता था। भक्त का कष्ट देख कर गङ्गाजी की एक धारा जिस का नाम जयदेई गङ्गा है स्वामी जी की कुटी के नीचे बहने लगी और अब तक बहती है और जयदेई गङ्गा के नाम से विख्यात है।

परोपकार करो।

(ले० हीरानन्द ब्रह्मचारी भगवद्भक्ति आश्रम)

श्रुति, स्मृति और पुराण सबका यही मत है कि मनुष्य को संसार में आकर परोपकार करना चाहिये। प्राचीन समय में जितने आचार्य, ऋषी, मुनी महात्मागण हुए है उनके जीवन पर दृष्टि डालने से, और वर्त्तमान समय के महान् पुरुषों की तरफ देखने से यही मालूम होता है कि इन सब की प्रवृत्ति परोपकार के लिए ही हुई है। परन्तु प्रत्येक मनुष्य सुख-प्राप्ति के लिए, प्राप्त सुख की वृद्धि के लिए, दुःख को टालने के लिए या कम करने के लिए ही सदा प्रयत्न किया करता है। भृगुजी भरद्वाज जी से कहते हैं—

इह खलु अमुष्मिंश्च लोके वस्तु प्रवृत्तयः सुखार्थं अभिधीयन्ते।
न ह्यतःपरं त्रिवर्ग फलं विशिष्ट तर मस्ति॥

अर्थात् इस लोक तथा परलोक में सारी प्रवृत्ति केवल सुख के लिए है और धर्म, अर्थ, एवं काम का इसके अतिरिक्त कोई अन्य फल नहीं है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य के मन में यह भाव उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि हम दूसरों का काम क्यों करें अपना ही क्यों न करें? अपना काम करने में प्रत्यक्ष अपना हित है, अपने को सुख मिलता है इत्यादि भाव चित्त में आए बिना नहीं रहते। बात बिलकुल ठीक है परन्तु ध्यान पूर्वक विचार करने से हमको प्रत्यक्ष होता है कि, केवल अपना भला चाहने से हमको कभी सुख नहीं मिलता। अपने शरीर और इन्द्रिया के पोषण के लिए हम जो काम करते हैं उसमें और उनके लालन, पालन से हमारा मन कभी प्रसन्न व सन्तुष्ट नहीं होता। इससे हम अपनी आत्मा में आनन्द का अनुभव नहीं करते। अपने स्वार्थ के लिये हम जो काम करते हैं उससे आत्मा की गति अवरुद्ध होती है, उसका क्षेत्र संकुचित होता है, उससे हमारे आत्मा का विकाश होने की बजाय बन्धन

होता है इस कर्म्म से हमारा आत्मा मैल से ढक जाता है प्रकृति से आच्छादित हो जाता है । अपनी इन्द्रियों के लालन पालन और शरीर पोषण के कर्म्म का जो प्रभाव हमारी आत्मा पर पड़ता है और उससे जो अवस्था उत्पन्न होती है उसको हम दुःख की अवस्था तो नहीं कह सकते परन्तु यह भी सत्य है कि हम उस में किसी प्रकार का सुख भी अनुभव नहीं करते और उसमें किसी प्रकार की नवीनता न होने के कारण हमको कुछ भी आनन्द नहीं आता और जो कुछ थोड़ा बहुत सुख हम अनुभव करते हैं वह इतना ही सुख है जितना सन्ध्या के समय का प्रकाश । इस सुख का आत्मा से स्पर्श मात्र का सम्बन्ध है । इसमें आत्मा की गति प्रसन्नता और रमण नहीं है । आत्मा की बात छोड़, यह मन के आनन्द का कारण भी नहीं है । मन की गति बहुत सूक्ष्म होने से इसको स्थूल पदार्थों में उतना आनन्द नहीं आता जितना सूक्ष्म पदार्थों में आता है । यदि हम इस विषय को मानसिक-क्षेत्र में नियमित करके इसकी आलोचना करें तो भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्वार्थ के लिए जो कर्म्म किया जाता है उसमें मनकी सबसे सूक्ष्म वृत्ति जो अहंकार है उसका क्षेत्र बहुत संकुचित होता है इस लिए हमारे मन को उसके विस्तृत रूप में रमण करने का और उसमें अभिमान करने का अवसर नहीं है । "मैंने अमुक कार्य किया,, इस अहंकार में तो मन आनन्द मानता है । अब देखिए इस के दो विभाग हैं एक यह कि मैंने " अमुक पदार्थ भोगा,, और दूसरा यह कि "मैंने अमुक कार्य किया,, इन दो में से "मैंने अमुक कार्य किया,, इसी में मानसिक अहंकार विशेष है इसी लिए मन इस में अधिक सुख व सन्तोष अनुभव करता है, परन्तु जबतक यह काम अपने तक ही सीमाबद्ध है तब तक सन्तोष की मात्रा भी नाममात्र है और जब इस सीमा और क्षेत्र का विस्तार होने लगता है तो यह सुख व सन्तोष की मात्रा भी बढ़ती चली जाती है । दूसरों के लिए हम जो काम करते हैं उसमें हमको जितना अहंकार प्रसन्नता और सन्तोष होता है उतना अपने काम में कदापि नहीं होता । यदि जीवों को दूसरे के कामों की अपेक्षा अपने काम ही में अधिक सुख मिलता तो यह सृष्टि-क्रम चल ही नहीं सकता था आत्मा का विकाश ही नहीं होसकता था और जीवोंकी ऊर्द्धगति ही सम्भव नहीं थी । आप साधारण से साधारण प्राणि पर दृष्टि डालिए यह जिस लग्न से अपने बच्चों का भरण पोषण करते हैं और उस कार्य में वह जिस सुख को अनुभव करते हैं क्या वह अपने स्वार्थ के कार्य में वह अनुभव कर सकते हैं ? कदापि नहीं । यदि बात होती तो वह अपने पेट को छोड़कर उनका भरण पोषण ही नहीं कर सकते थे । सम्भव है आप यह शंका कर उठें कि उनका यह काम मोह व अज्ञान वश है, परन्तु हम भी अभी स्वार्थ की बात कर रहे हैं । मनसिक क्षेत्र का ज़िकर कर

रहे हैं। जैसे २ हमारा ममत्व विस्तृत होता जाता है वैसे २ ही हमारा कार्य क्षेत्र बढ़ जाता है और कार्य क्षेत्र के साथ अपने कामों में हमारा अहंकार और उनके फल में हमारी प्रसन्नता भी बढ़ती जाती है। इसके साथ २ हम अपने आपको भूलते जाते हैं। अपने शरीर के सुख की उतनी परवा नहीं रखते। इस दशा में जो सुख व सन्तोष हमारे मनको होता है उसकी मात्रा इतनी अधिक होजाती है कि उसके मुकाबलेमें हमारे शरीर के सुख की कुछ गणना ही नहीं रहती। यह सुख हमको हमारे आत्मा के विकाश से मिलता है। पहले हमारा आत्मा एक कोठड़ी को ही अपना समझ कर उस ही की मरम्मत करता, उसमें ही झाड़ देता और उसको ही सुन्दर देख कर सुखी होता था परन्तु अब वह ऐसे २ हजारों मकानों व बागों में हिस्सेदार बन गया है इसलिए वह अपनी विस्तृत जायदाद को देख कर पहले की अपेक्षा बहुत सुखी होजाता है। इसी प्रकार समस्त विश्व से ममत्व करने पर उसका सम्बन्ध सब से होजाता है। ऐसी अवस्था में वह औरों के कष्ट को अपना कष्ट अनुभव करता है और जिस प्रकार अपने कष्ट को निवारण करने के लिए प्रयत्न करता है वैसे ही उनके लिए भी यत्न करता है फिर वह देखने में तो एक शरीर में दिखाई देता है परन्तु वास्तव में वह सब में विभक्त होता है क्योंकि उसका अन्तःकरण सबमें रमण करता है। वह संसार में अकेला प्रतीत भी नहीं होता सब आत्माएं उससे प्यार करती हैं। इसका फल यही नहीं होता है कि केवल वही औरों को सुख पहुंचाता है बल्कि जैसे वह उनसे प्रेम करता है और उनके सुख में सुखी और दुःख में दुःखी होता है वैसे ही वह भी उससे प्रेम करते हैं और अपना आत्मा जानकर उससे व्याहार करते हैं। इससे हमारे उस प्रश्न का उत्तर मिल गया कि परोपकार से क्या लाभ है ? ऊपर की बातों से यह सिद्ध होगया कि परोकार में अपना बड़ा भारी लाभ है और स्वार्थ में अपनी बड़ी हानि है इसलिए हमको अपनी भलाई के लिए परोपकार करना चाहिये।

अब यहाँपर यह प्रश्न उठता है कि यदि हम अपने क्षेत्रको विस्तृत कर लेंगे तो हमारे सुख के साथ हमारा दुःख भी बढ़ेगा और इस संसारमें सुख की अपेक्षा दुःख अधिक है, इस लिये हमारा जीवन संकट मय हो जायगा और हम अत्यन्त दुःखी हो जावेंगे। इसके उत्तर में हमारा यह कहना है कि ऐसी अवस्था में दुःख से सर्वथा तो छुटकारा नहीं होगा परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि सुख की अपेक्षा दुःख की मात्रा बहुत कम होगी कारण सुख पुण्य का फल है और दुःख पाप का और इसी कार्य-क्रम में पाप को बहुत कम स्थान है। हमारी भूल और अज्ञान वश ही कोई पाप हो सकता है अन्यथा हमारे हृदय के पाप को तो वहाँ स्थान ही नहीं है। हां दुःख का एक बड़ा कारण अभी शेष है, वह है कर्म में हमारी

आसक्ति, कर्म में आसक्ति भी बड़ा भयङ्कर रोग है। बड़े २ ज्ञानी, महात्मा इस रोग से ग्रसित रहते हैं। कबीर जी कहते हैं:-

'किया कराया सब गया, जब आया अहंकार।'

इस आसक्ति और अहंकार को दूर करके अन्य प्राणियों के हित के लिए कर्म करने का नाम ही वास्तविक परोपकार है। जब मनुष्य अहंकार युक्त होकर कर्म करता है तो कर्म फल में उसकी आसक्ति बनी रहती है परन्तु कर्म फल सदैव अपने आधीन नहीं होता। वह तो कर्म फल के दाता भगवान् के ही आधीन हैं और जब जीव अपने कर्म का इच्छित फल नहीं पाता तो उसको कर्म करने में ग्लानि और दुःख होता है परन्तु यह अवस्था स्थाई नहीं रहती। कर्म के साथ २ उस के ज्ञानका भी उदय होता है और अन्तः करण की भी शुद्धि होती है जिस के फल स्वरूप उसको पूर्ण महात्माओं के सत्संग व संसर्गका लाभ प्राप्त होता है। वह अपने सदोपदेश से उसको परोपकार का रहस्य समझा कर उस के संकट काट देते हैं फिर वह कर्म तो करता है परन्तु उसके फलमें नहीं बंधता। हमारे शास्त्र कहते हैं कि मनुष्य को सांसारिक व पारमार्थिक लाभके लिए दो ही साधन हैं एक आत्मा का चिन्तन अथवा भगवान् का भजन और दूसरा परोपकार अथवा निष्काम कर्म। इन में भी परोपकार ही सरल, सीधा और श्रेष्ठतर मार्ग है। भगवान् कृष्ण गीता में कहते हैं:-

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्म संन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥

कर्म संन्यास और कर्म योग दोनों ही कल्याण कारक हैं परन्तु इस में भी संन्यास की अपेक्षा कर्म योग श्रेष्ठ है। कारण भगवान् कहते हैं:-

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योग युक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥

परन्तु हे महाबाहो! कर्मयोग के बिना कर्मसंन्यास का प्राप्त होना बड़ा कठिन है और योग युक्त मुनि ब्रह्म को शीघ्र ही पालेता है। परोपकार के सम्बन्धमें व्यास जी कहते हैं।

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीड़नम्॥

अठारह पुराणों में से व्यास जी ने सार रूप दो वचन बताए हैं दूसरे का उपकार करना पुण्य है और किसी को कष्ट देना पाप है। भक्त शिरोमणि तुलसीदास जी भी फरमाते हैं

परहित सरिस धर्म नहीं भाई।
पर पीड़ा सम नहीं अधमाई॥

कबीर जी भी कहते:-

देह धरे का गुण यही, देह २ कुछ देह।
कहे कबीरा देह तू, जब लग तेरी देह॥
देह खेह हो जायगी, फिर कौन कहेगा देह।
निश्चय कर उपकार ही, जीवन का फल येह॥

परोपकार के लिये महात्माओं ने विशेष जोर इसलिए दिया है कि इसमें दोनों लोकों की प्राप्ति होती है और यही कारण है कि सब ही महात्माओं ने स्वयं इस धर्म का आचरण किया है। महात्मा ही नहीं स्वयं भगवान् ने मनुष्य शरीर धारण कर बार २ संसार का उद्धार किया है और दूसरों को भी निष्काम भाव से जीवों की भलाई करने का उपदेश दिया है। भगवान् कहते हैं:-

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानावाप्तमवाप्तव्यं वर्तएव च कर्मणि॥

हे पार्थ! इन तीनों लोकों में मुझे न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई अप्राप्त वस्तु प्राप्त करने की है, तथापि मैं कर्म करता ही हूं।

संसार का इतिहास हम को बतला रहा है कि जिस देश, धर्म व जाति में परोपकारी पुरुष होते हैं वही धर्म, अर्थ और मोक्ष के भागी होते हैं वह देश व जाति उन्नत व समृद्धिशाली होते हैं। परोपकार से अन्तःकरण शुद्ध होता है, इससे श्रद्धा व विश्वास उत्पन्न होता है, विश्वाश से प्रेम होता है। प्रेम से आनन्द मिलता है। यदि हम संसार के मनुष्यों को अपना आपा समझ कर उनकी सेवा करेंगे तो वह भी हम से प्रेम करेंगे यदि यही कर्म निष्काम भावसे उनको परमात्मा का रूप समझ कर करेंगे तो हमको भगवान् की प्राप्ति होगी। भगवान को भी वही मनुष्य प्यारा है और वही उसका परम भक्त है जो निष्काम भाव से भगवान् का काम करता है अर्थात् भगवान् की भक्ति का प्रचार करता है। ऐसा करनेसे मनुष्यका 'परत्व धर्म' मिट जाता है और फिर उस को पता लग जाता है कि जिस को मैं परोपकार कहता था वास्तव में वह मेरा ही परम उपकार व कल्याण था। वह विश्व का बन्धु और भगवान का प्यारा व दुलारा बन जाता है और आपे को पाकर परमानन्द का भागी होता है। फ्रांस के आगस्ट कांट ने भी जो इस समय का बड़ा दार्शनिक हुआ है, संसार के इतिहास की आलोचना करके सब व्यवहार शास्त्रों का यही मथितार्थ निकाला है "इस संसार में प्रत्येक मनुष्य का परम धर्म यही है कि वह समस्त मानव जाति पर प्रेम रख कर सब लोगों के कल्याण के लिए सदैव प्रयत्न करता रहे।"

स्वार्थो यस्य परार्थ स पुमान् एकः सतां अग्रणीः।

परार्थ ही को जिस मनुष्य ने अपना स्वार्थ बना लिया है वही सब सत्पुरुषों में श्रेष्ठ है। बृहन्नारदीय पुरान का वचन है:-

परोपकार निरतः सदा भव महामते।
हरि पूजा परश्चैव त्यज मूर्ख समागमम्।

हे महामते! सदा परोपकार करने में प्रवृत्त रहो, ईश्वर पूजा में रत होवो और मूर्खों की संगति का त्याग करो।

परोपकारी मनुष्य के लिए उभय लोकों में कुछ भी अप्राप्त और अलभ्य नहीं है।

ऐसा कहा भी है।

तस्माज्जन्तुषु सर्वेषु हित कृद्धरि पूजकः।
ईप्सित मनसा यत्तु तत्तदाप्नोत्यसंशयम्॥

अतएव जो सब प्राणियों के हितकारी और हरिपूजक हैं, वे जो २ मन से चाहते हैं सो २ निसन्देह पाते हैं।

शाश्वत जीवन।

गतांङ्क से आगे।

(ले० रामचन्द्र जी जज एम० ए० दिल्ली।)

दूसरे दिन प्रातः काल ही हमारी नौका करांची बन्दर से रवाना हो गई। राय लक्ष्मी दास को अपनी नौका पर इतना घमण्ड था कि उन्होंने उस को तट के निकट की ओट ही में ले जा कर ठहराया जहां लहरों के वेग से डरती हुई किसी दूसरी नौका ने अबतक जाने का कभी साहस नहीं किया था। नौका का अधिकार एक वृद्ध मिस्तरी के निमित था जो देश से राय साहब के साथ आया था। मुझे राय लक्ष्मीदास ने उस का एक २ अंजन का पुर्जा आप दिखाया और समझाया।

डाक्टर दीन दयालु और मुनीम सेवादास अभी करांची में ही थे उन्होंने राय लक्ष्मी दास और श्रीमती इन्दुदेवी के लिये बहुत ही औषधियां इत्यादि लेनी थीं। उन दोनों सज्जनों का वृतान्त भी राय लक्ष्मीदास ने मुझे पूर्णतया कह सुनाया। डाक्टर दीनदयालु ने प्रथम यूनीवर्सटी की परीक्षा पास करके दस वर्ष तक सर्कार अंगरेजी की नौकरी की थी। इन दिनों में उन्होंने वायु विकार के विषय में एक ऐसी पुस्तक लिखी जिसे देख कह इंगलेंड और अमेरिका के बड़े २ चिकित्सक भी दंग रह गए। इस के पुरस्कार में उन्हें एम-डी, की डिगरी मिली। उन का यश इतना हो गया कि दूर २ से रोगी उन की चिकित्सा के लिये आने लगे। धन प्राप्ति भी बहुत सी हुई फिर उन्होंने नौकरी त्याग दी। राय लक्ष्मी-दास के घर में उन का उपचार बहुत दिनों से चला आता था इसी लिये इस समय भी राय साहब उनको अपने साथ बहुत सा धन देना करके ले आए। उनकी और लक्ष्मीदास दोनों की जाति ब्राह्मण थी इस लिए भी एक दूसरे से अधिक प्रीति थी।

मुनीम सेवादास नाम के ही मुनीम थे। वैसे तो अंगरेजी की एंट्रेंस परीक्षा पास थे शार्टहैंड टाइपराईटर इत्यादि सब गुण भली भाँति जानते थे। राय लक्ष्मीदास ने मुझ से कहा कि सेवादास के विना उन का एक पल बीतना कठिन था।

सन्ध्या समय यह दोनों सज्जन भी स्टीम बोट पर चढ कर आपहुंचे। मैं उस समय इन्दुमति के साथ बैठी हुई थी और उन्होंने आकर हम दोनों को प्रणाम किया। मेरा मन

इन दोनों सज्जनों की आकृति देखते ही गलीन हो गया। डाक्टर दीन दयालु का सांवला रङ्ग हलका शरीर, श्याम अलकों के बीच में सजी हुई मांग, भाव रहित नेत्र, गम्भीर और शांति मय आचार उनकी बाहिरी सभ्यता के साथी थे। मेरे मन ने फिर भी यह शंका प्रकट की, कि यह पुरुष स्वार्थी है, यह खूब जानता है कि ऐसे अमीर के साथ रहने से कहीं न कहीं लाभ हो ही जायगा। मैं यह कहना भूल गई कि इन्दुमती की माता का देहान्त कन्या के जन्म के समय ही हो गया था। उस के पिता का यह विचार था कि इन्दुमती को बचपन में माता का प्यार नसीब नहीं हुआ इस लिये यह दशा हो गई। वह यह भी कहते थे कि इन्दुमति की मां बड़ी सुकुमारी थी और बेटी ने माता का स्वभाव लिया है। मेरा अपना विचार यह था कि इन्दुमती अच्छी भली है और उस के समस्त दुःख दर्द का केवल एक ही कारण था कि बालकपन से वह अपनी मर्जी की मालिक रही जो थोड़ी सी व्याधि हुई तो आस पास वालों ने उसे इतना बढ़ाया कि उस को पूर्ण स्वास्थ्य का अनुमान करने योग्य न छोड़ा। मैंने यह देख लिया कि डाक्टर दीन दयाल ने भी इन्दुमती के इसी मनो विकार को ढील दी हुई है और जब कभी वह अपनी काली २ आखों से उसको अथवा उसके पिता को देखते तो उन की आकृति ऐसी हो जाती जैसे बिल्ली की जो दो निडर चूहों को देख रही हो। मुनीम सेवादास अपने नाम मात्रकी मूर्ति थे। उनका प्रत्येक आचरण सेवा तत्पर था परन्तु इस दास रूपी रूप के पीछे उनको अपना अधिक अभिमान था। तदपि उन के विचार की सीमा शार्टहैंड से आगे नहीं गई। उनको यही बहुत था कि वह बिना दोष एक मिनट में कितने ही शब्द लिख लेते हैं। उन को मनुष्य की देह में कमानीदार घड़ी कहा जाय तो यथार्थ है। यह दोनों पुरुष, डाक्टर दीनदयालु और मुनीम सेवादास, ऐसे नहीं थे जिनको देखते ही हृदय विशेष प्रसन्न अथवा अप्रसन्न हो तदपि उन के भाव के प्रवाह का चक्कर ऐसा था कि मेरी आत्मा भी उस में अटक गई। निकलने को तो कोई रीति दिखाई देती न थी। पूछिये तो मैं यह नहीं जानती थी कि मैं ऐसे जंजाल में क्यों आ फंसी॥

थोड़े काल उपरान्त राय लक्ष्मीदास और डाक्टर दीनदयालु हमारे निकट आ बैठे। हम सब डेक चेयरस पर बैठे हुए थे। एक तरफ सेवादास भी एक बेंच पर बैठ गए। बैठते ही मुझे ऐसा मालूम हुआ कि डाक्टर दीनदयालु चकित हो कर कौतूहल भरे नेत्रों से मुझे देख रहे हैं। मैं उधर उन के भाव का इधर अपने भाव का अनुमान कर सकती थी। वह इतने चतुर तो नहीं थे कि अपने मोह का कारण जान लेते परन्तु मैंने जान लिया कि मेरी स्थिति उन के अनजाने ही उनको क्षुभित कर रही है। सेवादास तो अपने आपे में मग्न, एकान्त में बैठे हुऐ थे। उनको मेरे विषय में यदि कोई विचार आया तो वह केवल इतना

ही कि मैं उन के स्वामी के घर अतिथिनी थी और उनका धर्म था कि वह मेरा आदर सत्कार करते रहें। डाक्टर दीनदयालु का तो यह विचार न था। पहले तो मैं केवल उन की व्याकुलता का कारण ही थी जब उन्होंने मुझे बैठ कर जांच लिया तो उन के मन में रोष का अकुंर भी उठ खड़ा हुआ। उन्होंने मुझ से वार्तालाप करना आरम्भ कर दिया और करांची बम्बई तथा तट यात्रा के सौन्दर्य के विषय में दो चार बातें करके कहने लगे।

गार्हस्थ्य धर्म पर एक कथा।

कश्चित्क्षुद्रसमाचारः प्राणिनां कालसन्निभः।
विचचार महारण्ये घोरः शकुनिलुब्धकः ॥१॥

कोई क्षुद्र आचार वाला प्राणियों को काल की समान घोर पक्षियों का लुब्धक वन में विचरता था।

नैव कश्चित्सुहृत्तस्य न सम्बन्धी न बान्धवः।
स तैः सर्वैः परित्यक्तस्तेन रौद्रेण कर्मणा ॥२॥

न कोई उस का सुहृद न सम्बन्धी न बान्धव था, उस के क्रूर कर्म से सब ने उसे त्याग दिया ॥ २ ॥

ये नृशंसा दुरात्मानः प्राणिनां प्राणनाशकाः।
उद्वेजनीया भूतानां व्याला इव भवन्ति ते ॥३

अथवा जो क्रूरात्मा दुरात्मा प्राणियों के प्राण नाशक हैं वे भूतों के उद्वेग कारक व्याल की समान होते हैं ॥ ३ ॥

स पञ्जरकमादाय पाशं च लगुडं तथा।
नित्यमेव वनं याति सर्वप्राणिविहिंसकः ॥४॥

वह सब प्राणियों की हिंसा करने वाला पिंजरा पाश और लगुड लेकर नित्य ही वन को जाता ॥ ४ ॥

अन्येद्युर्भ्रमतस्तस्य वने कापि कपोतिका।
जाता हस्तगता तां स प्राक्षिपत्पञ्जरान्तरे ॥५

एक दिन घूमते हुए उस के वन में कोई कबूतरी हाथ आई उसने उसे पिञ्जरे में डाल दिया ॥ ५ ॥

अथ कृष्णा दिशः सर्वा वनस्थस्याभवन्घनैः।
वातवृष्टिश्च महती क्षयकाल इवाभवत् ॥६॥

तब उस वनकी सब दिशा मेघों से श्याम हो गई क्षय काल की समान बड़ी पवन चली और वर्षा हुई ॥ ६ ॥

ततः स त्रस्तहृदयः कम्पमानो मुहुर्मुहुः।
अन्वेषयन्परित्राणमाससाद वनिस्पतिम् ॥७॥

तब संत्रस्त हृदय हो कर बारम्बार कंपित हुआ वह परिमाण (रक्षा) खोजता हुआ वृक्ष नीचे प्राप्त हुआ ॥ ७ ॥

मुहूर्त पश्यते यावद्वियद्विमलतारकम्।
प्राप्य वृक्षं वदत्येवं योऽत्र तिष्ठति कश्चन ॥८

जब मुहूर्त मात्र आकाश निर्मल तारे वाला हुआ तब वृक्षों को प्राप्त हो कर बोला जो कोई यहां स्थित हो ॥ ८ ॥

तस्याहं शरणं प्राप्तः स परित्रातु मामिति ।
शीतेन भिद्यमानं च क्षुधया गतचेतसम् ॥९॥

मैं उस की शरण में प्राप्त हूं मेरी वह रक्षा करे मैं शीत से भेदित और भूख से व्याकुल हूं ॥ ९ ॥

अथ तस्य तरोः स्कन्धे कपोतः सुचिरोषितः ।
भार्याविरहितस्तिष्ठन्विललाप सुदुःखितः ॥१०

उसी वृक्ष की शाखा में कबूतर बहुत काल से रहता था वह उस समय स्त्रीके विना विलाप कर रहा था और दुःखी था ॥ १० ॥

वातवर्षो महानासीन्न चागच्छति मे प्रिया ।
तया विरहितं क्षेत्रशून्यमद्य गृहं मम ॥११॥

बड़ी वात और बड़ी वर्षा हुई है अभी तक मेरी प्यारी नहीं आई उस के बिना आज यह मेरा घर सूना है ॥ ११ ॥

पतिव्रता पतिप्राणा पत्युः प्रियहिते रता ।
यस्य स्यादीदृशी भार्या धन्यः स पुरुषो भुवि ॥

पतिव्रता पति की प्राण, पति के प्रिय और हित में तत्पर जिस के ऐसी भार्या है वह पुरुष पृथ्वी में धन्य है ॥ १२ ॥

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते ।
गृहं हि गृहिणीहीनमरण्यसदृशं मतम् ॥ १३

घर का नाम घर नहीं किन्तु स्त्री का नाम घर है गृहणी के विना घर वन की समान है ॥ १३ ॥

पञ्जरस्था ततः श्रुत्वा भर्तुर्दुःखान्वितं वचः ।
कपोतिका सुसंतुष्टा वाक्यं चेदमथाह सा ॥१४

तब पिंजरे में स्थित हुई कबूतरी उस के दुःख भरे वचन सुन कर इस पूकार सन्तुष्ट होकर कहने लगी ॥ १४ ॥

न सा स्त्रीत्यभिमन्तव्या यस्यां भर्ता न तुष्यति ।
तुष्टे भर्तरि नारीणां तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः ॥

उस में स्त्रीपन मत मानो जिससे कि स्वामी पूसन्न नहीं होता । नारियों के पति पूसन्न होने में सब देवता उस पर पूसन्न हो जाते हैं ॥ १५ ॥

दावाग्निना विदग्धेव सपुष्पस्तवका लता ।
भस्मीभवतु सा नारी यस्या भर्ता न तुष्यति ॥

दावाग्नि से दग्ध हुई फल गुच्छे वाली लता के समान वह स्त्री भस्म हो जाती है जिस पर स्वामी पूसन्न नहीं होता ॥ १६

मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः ।
अमितस्य हि दातारं भर्तारं का न पूजयेत् ॥

पिता माता पुत्र परमित सुख देते हैं, इस से अमित दान देने वाले भर्ता का पूजन कौन न करे ॥ १७ ॥

शृणुष्वावहितः कान्त यत्ते वक्ष्याम्यहं हितम् ।
प्राणैरपि त्वया नित्यं संरक्ष्यः शरणागतः ॥

फिर बोली, हे स्वामी ! सावधान होकर सुनो जो मैं तुम को हितकर वचन कहती हूं

शरण में आए पुरुष की प्राणों से अधिक रक्षा करनी चाहिये ॥ १८ ॥

एष शकुनिकः शेते तवावासं समाश्रितः ।
शीतार्तश्च क्षुधार्तश्च पूजामस्मै समाचर ॥१९

यह पक्षीका पकड़ने वाला तुम्हारे स्थान में प्राप्त हुआ सोता है शीत और भूख से व्याकुल है तू इस का सत्कार कर ॥ १९ ॥

यः सायमतिथिं प्राप्तं यथाशक्ति न पूजयेत् ।
तस्यासौ दुष्कृतं दत्त्वा सुकृतं चापकर्षति ॥२०

सुना है कि, सन्ध्या के समय प्राप्त हुए अतिथि को जो यथा शक्ति पूजन नहीं करता है उसको वह अपना पाप दे और उसका पुण्य ले कर चला जाता है ॥ २० ॥

मा चास्मै त्वं कृथा द्वेषं बद्धानेनेति मत्प्रिया ।
स्वकृतैरेव बद्धाहं प्राक्तनैः कर्मबन्धनैः ॥२१

इस ने मेरी प्रिया बांध ली है इस कारण द्वेष मत करो मैं अपने किये पूर्व जन्मानुसार बन्धी हूं ॥ २१ ॥

दारिद्र्यरोगदुःखानि बन्धनव्यसनानि च ।
आत्मापराधवृक्षस्य फलान्येतानि देहिनाम् ॥

दारिद्र रोग दुःख बन्धन व्यसन यह आत्मा अपराध वृक्ष के फल देह धारियों को होते हैं ॥ २२ ॥

तस्मात्त्वं द्वेषमुत्सृज्य मद्बान्धनसमुद्भवम् ।
धर्मे मनः समाधाय पूजयैनं यथाविधि ॥२४॥

इस कारण तू मेरे बन्धन से उत्पन्न हुए द्वेष को त्यागन कर धर्म में मन को लगाय यथा विधि से इस का पूजन कर ॥ २३ ॥

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा धर्मयुक्तिसमन्वितम् ।
उपगम्य ततोऽभ्यष्टः कपोतः प्राह लुब्धकम् ॥

उसके धर्म और युक्ति के वचन सुन कर लुब्धक के पास जाय नम्रता से कपोत बोला ॥ २४ ॥

भद्र सुस्वागतं तेऽस्तु ब्रूहि किं करवाणि ते ।
संतापश्च न कर्तव्यः स्वगृहे वर्तते भवान् ॥

हे भद्र आप का शुभागमन हो कहो मैं तुम्हारा क्या प्रिय करूं दुःख मत मानना तुम अपने घर में ही प्राप्त हो ॥ २५ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा प्रत्युवाच विहङ्गमम् ।
कपोत खलु शीतं मे हिमत्राणं विधीयताम् ॥

उस के यह वचन सुन वह [व्याधा] पक्षी से बोला हे कबूतर मुझे जाड़ा बहुत लगता है जाड़े से बचा ॥ २६ ॥

स गत्वाङ्गारकं नीत्वा पातयामास पावकम् ।
ततः शुष्केषु पर्णेषु तमाशु समदीपयत् ।

तब वह जाकर (चोंच में) अङ्गारे की लकड़ी ला कर अग्नि को गिराता हुआ फिर सूखे पत्तों में उसको जलाता हुआ ॥ २७ ॥

सुसंदीप्तं ततः कृत्वा तमाह शरणागतम् ।
संतापयस्व विश्रब्धं स्वगात्राण्यत्र निर्भयः ।
न चास्ति विभवः कश्चिन्नाशये येन ते क्षुधम् ॥

अग्नि को प्रदिप्त कर उस शरण में आये हुए से बोला अब निर्भय होकर तुम अपने गात्र को तपाओ और कुछ वैभव तो है नहीं

जिस से तुम्हारी क्षुधा निवृत्ति करूं ॥ २८ ॥

सहस्रं भरते कश्चिच्छतमन्यो दशापरः।
ममत्वकृतपुण्यस्य क्षुद्रस्यात्मापि दुर्भरः ॥२९

कोई सहस्र को कोई सौ को कोई दश को पालन करता है अपुण्यकारी मुझ क्षुद्र का शरीर तो एक की तृप्ति के निमित्त भी पूर्ण नहीं है ॥ २९ ॥

एकस्याप्यतिथेरन्नं यः प्रदातुं न शक्तिमान्।
तस्यानेकपरिक्लेशे गृहे किं वसतः फलम् ॥

जो एक अतिथि को भी अन्न देने की सामर्थ्य नहीं रखता उसका अनेक क्लेश वाले घर में रहने से क्या फल है ॥ ३० ॥

तत्तथा साधयाम्येतच्छरीरं दुःखजीवितम्।
यथा भूयो न वक्ष्यामि नास्तीत्यर्थिसमागमे ॥

सो इस दुःख जीवित शरीर को इस प्रकार से साधन करूंगा कि जो फिर अर्थि के समीप में न प्राप्त हो सकूं ॥ ३१ ॥

स निनिन्द किलात्मानं न तु तं लुब्धकं पुनः।
उवाच तर्पयिष्ये त्वां मुहूर्त्तं प्रतिपालय ॥

वह अपनी ही निन्दा करके न कि उस लुब्धक की इस प्रकार (कबूतर] लुब्धक से बोला एक मुहूर्त तक तू ठहर ॥ ३२ ॥

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा प्रहृष्टेनान्तरात्मना।
तमग्निं संपरिक्रम्य प्रविवेश स्वकेश्मवत् ॥

ऐसा कह वह धर्मात्मा प्रसन्न मन से उस अग्नि की परिक्रमा कर अपने घर की समान प्रवेश कर गया ॥ ३३ ॥

ततस्तं लुब्धको दृष्ट्वा कृपया पीडितो भृशम्।
कपोतमग्नौ पतितं वाक्यमेतदभाषत ॥

तब यह लुब्धक उसको देख कृपा से अत्यन्त पीड़ित हो अग्नि में गिरते कबूतर से यह वचन बोला ॥ ३४ ॥

यः करोति नरः पापं न तस्यात्मा ध्रुवं प्रियः।
आत्मना हि कृतं पापमात्मनैव हि भुज्यते ॥

जो मनुष्य पाप करता है अवश्य ही उस को आत्मा प्रिय नहीं है आत्मा के किये पाप को आत्मा ही भोगता है ॥ ३५ ॥

सोऽहं पापमतिश्चैव पापकर्मरतः सदा।
पतिष्यामि महाघोरे नरके नात्र संशयः ॥

वह मैं पापमति पाप कर्म में सदा रत महाघोर नरक में पड़ूंगा इस में कुछ सन्देह नहीं है ॥ ३६ ॥

नूनं मम नृशंसस्य पत्यादर्शः सुदर्शितः।
पूयच्छता स्वमांसानि कपोतेन महात्मना ॥

अवश्य ही अपना मांस देते हुए इस महात्मा कपोत ने मुझ निर्दयी को शिक्षा दी है ॥ ३७ ॥

अद्य प्रभृति देहं स्वं सर्व भोगविवर्जितम्।
तोयं स्वल्पं यथा ग्रीष्मे शोषयिष्याम्यहं पुनः ॥

आज से सम्पूर्ण भोग रहित इस देह को गर्मी में थोड़े जल की समान सुखा डालूंगा ॥ ३८ ॥

शीतवातातपसहः कृशाङ्गो मलिनस्तथा।
उपवासैर्बहुविधैश्चरिष्ये धर्मसूनमम् ॥

शीत वात गर्मीका सहने वाला कृष अङ्ग मलीन मैं अनेक उपवास कर धर्म करूंगा ॥

ततो यष्टिं शलाकां च जालकं पञ्जरं तथा ।
बभञ्ज लुब्धको दीनां कपोतीं च मुमोच ताम् ॥

तब वह लुब्धक लकड़ी शलाका जाल पिंजरा तोड़ कर उस दीन कपोती को भी छोड़ देता हुआ ॥ ४० ॥

लुब्धकेन ततो मुक्ता दृष्ट्वाग्नौ पतितं पतिम् ।
कपोती विललापार्ता शोकसंतप्तमानसा ॥

वह लुब्धक से छोड़ी हुई कपोती अग्नि में पति को गिरा देख शोक सन्ताप मन से व्याकुल हो विलाप करने लगी ॥ ४१ ॥

न कार्यमद्य मे नाथ जीवितेन त्वया विना ।
दीनायाः पतिहीनायाः किं नार्या जीवते फलम् ॥

हे नाथ! तुम्हारे विना मुझे जीने से अब काम नहीं है दीन पतिहीन स्त्री के जीने से क्या फल है ॥ ४२ ॥

मनोदर्पस्त्वहंकारः कुलपूजा च बन्धुषु ।
दासभृत्यजनेष्वाज्ञा वैधव्येन प्रणश्यति ॥

मन का हर्ष, बन्धुओं में कुल गौरव, दास-तथा भृत्य जनों में आज्ञा यह सब वैधव्य होने में नष्ट हो जाते हैं ॥ ४३ ॥

एवं विलप्य बहुशः कृपणं भृशदुःखिता ।
पतिव्रता सुसंदीप्तं तमेवाग्निं विवेश सा ॥

इस प्रकार बहुत विलाप कर दीन दुःखी हो वह पतिव्रता उस प्रदीप्त अग्नि में प्रवेश कर गई ॥ ४४ ॥

ततो दिव्याम्बरधरा दिव्याभरणभूषिता ।
भर्तारं सा विमानस्थं ददर्श स्वं कपोतिका ॥

तब दिव्य वस्त्र पहरे दिव्य गहनों से विभूषित वह कपोती विमान में अपने स्वामी को देखने लगी ॥ ४५ ॥

सोऽपि दिव्यतनुर्भूत्वा यथार्थमिदमब्रवीत् ।
अहो मामनुगच्छन्त्या कृतं साधु शुभे त्वया ॥

और वह भी दिव्य शरीर हो यथार्थ ऐसा कहने लगा हे शुभे ! मेरे पीछे आई यह तुमने अच्छा किया ॥ ४६ ॥

तिस्रः कोट्यर्धकोटी च यानि रोमाणि मानुषे ।
तावत्कालं वसेत्स्वर्गे भर्तारं यानुगच्छति ॥

साढ़े तीन किरोड़ जितने रोम मनुष्य के हैं इतने समय तक वह स्त्री स्वर्ग में निवास करती है जो अपने स्वामी के पीछे अनुगमन करती है ॥ ४७ ॥

कपोतदेवः सूर्यास्ते प्रत्यहं सुखमन्वभूत् ।
कपोतदेहवत्सासीत्पाक्पुण्यप्रभवं हि तत् ॥

वह कपोतदेव सूर्यास्त में प्रति दिन सुख अनुभव करता था और वह कपोती पूर्व जन्म के पुण्य प्रभाव से कपोत देहवत् होगई ॥४८

हर्षाविष्टस्ततो व्याधो विवेश च वनं घनम् ।
प्राणिहिंसां परित्यज्य बहुनिर्वेदवान्भृशम् ॥

तब प्रसन्न हो वह व्याधा गहन वन में प्रवेश कर गया और प्राणियों की हिंसा त्यागन कर बहुत निर्वेद वाला हो कर ॥ ४८ ॥

तत्र दावानलं दृष्ट्वा विवेश विरताशयः।
निर्दग्धकल्मषो भूत्वा स्वर्गसौख्यमवाप्तवान् ॥

वहां दावानल लगी देख कर उस में प्रवेश कर गया और पाप रहित होकर स्वर्ग का सुख भोगने लगा ॥ ५० ॥

त्याग ही सर्व श्रेष्ठ है।

(ले० भूमानन्द ब्रह्मचारी)

एकबार युधिष्ठिर महाराज ने भीष्म पितामह से पूछा कि धनी अथवा निर्धन पुरुष यदि शास्त्र के अनुसार वर्ताव करे तो उस को सुख अथवा दुःख किस प्रकार होता है। तब भीष्म पितामह ने एक दुष्टा स्त्री से दुःखित हुये, भूख से पीड़ा पाते हुए भी त्याग की स्वीकार करने वाले शम्पाक नामक ब्राह्मण की कथा सुनाई। इस संसार में जो मनुष्य उत्पन्न होता है उस को आजन्म नाना प्रकार की यंत्राणायें झेलनी पड़ती हैं। जब दैव इसको सुःख या दुःख के एक मार्ग में ले जाय तब सुख पाकर प्रसन्न न हो और दुःख पाकर खेद न माने। कामना रहित होते हुए भी संसार रूपी माया जाल में फंस कर मनुष्य अपने कल्याण के लिए चंचल मन का निरोध यदि न करे तो इससे अधिक और अकल्याण की बात संसार में क्या हो सकती है। यदि मनुष्य अकिञ्चन होकर इस संसार में विचरे तो उसे सुख का आनन्द मिल सकता है। अकिञ्चन मनुष्य सुख से सोता है और सुख से उठता है। अकिञ्चन पना संसार में सुखदायक, हितकारक शिवरूप, विघ्न रहित उत्तम मार्ग है। यह मार्ग स्वतन्त्र मनुष्यों के लिए सुलभ है और कामना वालों को दुर्लभ है। यदि हम तीनों लोकों पर दृष्टि प्रसारित करें तो विदित होगा कि अकिंचन पुरुषों के समान सब पदार्थों पर विरक्त भाव रखने वाले तथा शुद्ध दूसरे नहीं हैं। अकिंचनपने को और राज्य को तराजू में रख कर तोला जाय तो अकिंचनपना राज्य से भी अधिक गुणवान् होगा। राज्य भोगी धनवान् मनुष्य सर्वदा मृत्यु के वश में पड़ा हुआ सा विदित होता है। परन्तु जो मनुष्य धन और तृष्णाको त्याग करदेता है उस मुक्त मनुष्य का अग्नि, मृत्यु या चोर तिरस्कार नहीं कर सकते सदा इच्छानुसार विचरने वाले, पृथिवी पर सोने वाले, भुजा का तकिया लगाने वाले और शान्ति में रहने वाले मनुष्य की देवता प्रशंसा करते हैं। जो धनवान् होकर क्रोध और लोभ से भारा रहता है अपने आप को भूल कर सब को तिरछी दृष्टि से देखता है। मुख सूखा हुआ पाप, विचार वाला और भृकुटी चढाये हुए नीचे के होट को काटता रहता है और क्रोध में भरा हुवा सदा दारुण वचन बोलता है वह पुरुष यदि सम्पूर्ण पृथिवी देने को तयार हो जाय तो भी कौन मनुष्य उसको भला समझेगा। उस मनुष्य का लक्ष्मीके साथ नित्य सहवास रहता है अतः लक्ष्मी उसकी

मोहित कर देती है। जैसे शरद ऋतु में पवन बादलों को उड़ा कर लेजाता है ऐसे ही लक्ष्मी उस के चित्त को चाहे जहां घसीट कर लेजाती है। बड़ा हो जाने पर उस को रूप का और धनका अभिमान हो जाता है और फिर वह समझने लगता है कि मैं उत्तम कुल में पैदा हुआ हूं, केवल मनुष्य ही नहीं किन्तु सिद्ध हूं इन कारणों से उस के मन में पागलपना आ जाता है तब वह भोग में आसक्त होकर बाप दादा के जोड़े हुए धन को उड़ा देता है। जब वह निर्धन होजाता है तब दूसरों के धन को छीनने का विचार करता है। इस प्रकार उस मनुष्य को इस जगत् में अनेकों प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं। धनादि परिग्रह का त्याग किए बिना सुख नहीं मिलता परब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होती। अतः सब कामनाओं के त्याग करने में ही सुख है। एक बार मंकी नामक विरक्त पुरुष ने धन की इच्छा से बार २ उद्योग किया परन्तु उस की वह इच्छा निष्फल हुई। अन्त में जो थोड़ा सा धन शेष रहा उस से उसने दो बछड़े खरीदे और उन से उस ने कुछ उद्योग धन्धा आरम्भ किया। एक बार वह उन दोनों बछड़ों को जोड़े हुए ले जाता था कि इतने में ही वह दोनों बछड़े एक बैठे हुए ऊंट को बीच में करके एक दम दौड़ पड़े। वे ज्यों ही दौड़े कि ऊंट खड़ा होगया वह दोनों बछड़े तराजू के पलड़ों की समान लटकने लगे। मंकी ऋषी ने अपने प्यारे बछड़ों को ऊंट के कण्ठ में मणि की भांति लटकते हुए देखा तो बड़ा दुःख हुआ। उस समय उसको शुक मुनिका वचन याद आया।

य कामानाप्नुयात्सर्वान् यश्चैतान् केवलांस्त्यजेत्।
प्रापणात् सर्व कामानां परित्यागो विशिष्यते॥

जो मनुष्य सब कामनाओं को पा जाता और जो सब कामनाओं को त्याग देता है इन में सब कामनाओं को पाने वाले की अपेक्षा उनको त्यागने वाला श्रेष्ठ माना जाता है। अतः वह अपने मनको समझाने लगा कि "हे स्वामी! तू धन पाने के उद्योगको छोड़ दे और वैराग्य धारण करके शान्त हो धन की आशा ने तुझे बार बार धोका दिया है।

न पूर्वे नापरे जातु कामाना मन्त मापुवन्।
त्यक्त्वा सर्व समारम्भान् प्रतिबुद्धोऽस्मि जागृमि॥

जो पहले होगये और जो आगे को होने वाले हैं किसी ने भी कामनाओं का अन्त नहीं पाया। ऐसा देख कर मैंने सर्व प्रवृत्तियों को त्याग दिया है। अब मैं जान गया हूं और मुझे ज्ञान हो गया है। देह को पराधीन कर देने से भी धन नहीं मिलता इससे अधिक और कौनसा दुःख होगा। ज्यों २ धन मिलता है त्यों त्यों उस को तृष्णा बढ़ती है। तृष्णा के बढ़ने से नाश होता है अतः अब मुझे ज्ञान हो गया है। हे अहंकार! तुम्हारे ऊपर मेरी प्रीति नहीं है तुम काम और लोभ के पिछलग्गू हो अतः मैं सबको त्याग कर सत्व गुण का आश्रय लेता हूं।

सर्व भूतान्यहं देहे पश्यन्मनसि चात्मनः।
योगे वुद्धौ श्रुते सत्वं मनो ब्रह्मणि धारयन्॥

मैं अपने शरीर में तथा मन में सब भूतों को देख कर अपनी बुद्धि को योग में, जीवको ज्ञान में और आत्मा को ब्रह्म में लगाऊंगा। अतः काम, लोभ, कृपणता यह सब मोक्ष की कामना वालों को त्याग देना चाहिये। इसी में परम सुख है।

(महाभारत के आधार पर)

श्रद्धा ।

मनुष्य में मनुष्यत्व क्या है इसका संक्षिप्त से संक्षिप्त और सरल से सरल उत्तर श्रीभगवान् ने जो दिया है उसके अतिरिक्त और कोई उत्तर बन ही नहीं सकता। श्री भगवान् कहते हैं।

श्रद्धा मयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।

यह पुरुष श्रद्धा मय है, जैसी जिसकी श्रद्धा है वह वही है। मनुष्यत्व की कितनी सुन्दर व्याख्या है? संसारिक और पारमार्थिक समस्त कार्य श्रद्धा के आधार पर ही प्रतिपादित होते हैं। जितनी जिसकी श्रद्धा है उतना ही उसमें विश्वास है और जितना जिसमें विस्वास है, उतनी ही उसमें कार्य सम्पादन करने की शक्ति है और जितनी जिसकी शक्ति है उतना ही वह अपने में सफलीभूत है। श्रुति कहती है–

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धयाहूयते हविः ।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि (ऋ०) ॥

श्रद्धा से ही जीवन तेज चेताया जाता है, श्रद्धा से ही जीवन यज्ञ में आहुति दी जाती है। मैं इसी श्रद्धा देवी को अपने वचनों द्वारा जीवन मस्तक पर चढाता हूं।

श्रद्धा से किया हुआ मत्येक काम सफल होता है और अश्रद्धा से किए हुए सब काम निष्फल होजाते हैं इसीलिए ऋषि मुनी श्रद्धा के लिए नित्य प्रति भगवान् से प्रार्थना किया करते थे यथा श्रुतिः–

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि ।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धाय मे हनः ॥

हम प्रातः उठते ही श्रद्धा देवी का आवाहन करते हैं दिन भर में श्रद्धा माता का आवाहन करते हैं और सूर्य के निम्न काल में भी श्रद्धा देवी का आवाहन करते हैं। अय श्रद्धे ! हमें इस जीवन में अपने से भरदे।

श्री भगवान् के दर्शन के लिए, ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति के लिए और धार्मिक कार्यों को करने के लिए मनुष्य का सर्व श्रेष्ठ साधन, सब से उत्तम अस्त्र श्रद्धा ही है। जिसका हृदय-सरोवर परम सतो गुणी श्रद्धा से भरपूर है उसे जप, तप तथा अन्य साधनों की क्या अपेक्षा है? महाभारत का वचन है

किं तस्य तपसा कार्यं किं वृत्तेन किमात्मना ।

श्रद्धावान् पुरुष को तप, सदाचार और धैर्य से क्या प्रयोजन है? श्रद्धा के सहारे

मनुष्य भवसागर को बड़ी सरलता से तर जाता है। और श्रद्धालु को कुछ भी अलभ्य नहीं है। समस्त गुण श्रद्धा के आश्रित रहते हैं। जिस प्रकार समुद्र में नदियें आप ही आकर गिर जाती हैं उसी तरह श्रद्धालु पुरुष के पास उत्तम २ गुण आप ही आजाते हैं। महाभारत में लिखा है।

अश्रद्धा परमं पापं श्रद्धा पाप प्रमोचनी।
जहाति पापं श्रद्दधावान् सर्पो जीर्णामिवत्वचम् ॥

अश्रद्धा परम पाप है और श्रद्धा पाप में से छुटाने वाली है, सर्प जैसे जीर्ण हुई कैंचुली को त्याग देता है, ऐसे श्रद्धालु पुरुष पाप को त्याग देता है।

महाभारत में युधिष्ठिर को मोक्ष धर्म्मका उपदेश करते हुए श्रद्धा की महिमा इस प्रकार वर्णन की है।

वाग्दुष्टं त्रायते श्रद्धा मनो दुष्टं च भारत।
श्रद्दधादुदृधं वाङ्मनसी न कर्म त्रातु महंति ॥

हे भरतवंशी राजन! मन तथा वाणी से हुए दोष वाले कर्म का श्रद्धा समाधान करती है और वाणी तथा मन श्रद्धा रहित कर्म की रक्षा नहीं कर सकते ॥

श्रद्धा वैवस्वती सेयं सूर्यस्य दुहिता द्विज।
सा विशो प्रसवित्रि च वहीर्वाङ्मनसी तत ॥

ब्रह्म सम्बन्धी श्रद्धा सूर्य की प्रकाशमान पुत्री है, वह लोकों का पालन करने वाली है और विशुद्ध जन्म देने वाली है, जप तथा ध्यान से उत्पन्न हुए धर्म से भी श्रद्धा श्रेष्ठ है।

ध्रुवजी ने माता के वचनों पर श्रद्धा करके अटल पदवी पाई और शेख फरीद ने माता के वचन पर श्रद्धा करके भगवान् की प्राप्ति की। पद्मपादाचार्यजी ने गुरु के वचन पर श्रद्धा करके नदी में छलांग लगाई और हनुमान जी ने भगवान् रामचन्द्र जी की श्रद्धा के बलपर समुद्र का उल्लंघन किया।

सम्भव है आपके मन में प्रश्न उठे कि जिस श्रद्धा की इतनी महिमा है वह श्रद्धा कैसे उत्पन्न होती है और उसका रूप क्या है? यही शंका भगवान् से अर्जुन ने की थी जिस के उत्तर में भगवान् कहते हैं।

सत्वानु रूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।

हे अर्जुन अपने अतःकरण तथा पारब्ध कर्म के अनुसार मनुष्य में श्रद्धा होती है। श्रद्धा से रहित कोई भी मनुष्य नहीं होता परन्तु अपने २ कर्मके अनुसार प्रत्येक मनुष्य का अन्तःकरण प्रथक् २ होता है और अन्तःकरण की बनावट के अनुसार ही मनुष्यों का ज्ञान होता है और उसी के अनुसार उन की श्रद्धा होती है। भगवान् ने गीता में इस के तीन भेद बताये हैं।

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥

देहधारियों की वह स्वभाव जन्य श्रद्धा सात्विकी, राजसी और तामसी भेद करके तीन प्रकारकी

होती है ।

यह बात विरचाने की है रजोगुण की मात्रा अधिक होने से और मायावी पदार्थों में सोलुप्त होने से जिन लोगों की बुद्धि पर मल चढ गया है वह श्रद्धालु भक्तों को अन्ध विश्वासी कहा करते हैं परन्तु उनको अपने अन्तःकरण के शुद्ध न होने से यह ज्ञान नहीं है कि माया के जिन पदार्थों के पीछे तुम पड़े हुए हो, भक्तों ने निर्मल अन्तःकरण द्वारा उनकी असारता को देखकर और उनको दुःख रूप समझ कर त्याग दिया है और वह भक्त अपनी निर्मल बुद्धि द्वारा समस्त सुखों के भण्डार आनन्द स्वरूप भगवान् का अनुभव करके उसपर पूर्ण विश्वास करके उसके अनुपम प्रेम में मत वाले होरहे हैं। उन संसारी लोलुप मनुष्यों की बुद्धि केवल मायावी पदार्थों पर ही जाती है अतएव वह उन्हीं पर श्रद्धा रखकर उन्ही की पूजा व उपासना करते रहते हैं जब वह माया पर श्रद्धा रख कर उसको नित्य समझते हैं तब ही तो उसके पीछे लगे हुए हैं यदि उनको अपने काम में श्रद्धा न हो तो वह उस कार्य को एक क्षण भी नहीं कर सकते । फिर श्रद्धा अन्धी कहां हुई और यदि श्रद्धा अन्धी भी है तो उन ही लोगों की है जो जड़ पदार्थों में श्रद्धा रखते हैं। भगवान् तो चैतन्य है। वह ज्ञान है, वह आनन्द है और नित्य है उसमें श्रद्धा होना तो पूर्ण ज्ञान का लक्षण है ।

शास्त्रों में श्रद्धा की बहुत महिमा कही गई है और अश्रद्धा की बड़ी निन्दा की है। भगवान् कहते हैं । "संशयात्मा विनश्यति"

जिसकी आत्मा में संशय है अर्थात् जो श्रद्धा रहित है वह नाश को प्राप्त होजाता है । और भी

श्रद्धा पूतं वदान्यस्य ह सम श्रद्दधेतरत् ।
भोज्यमन्नं वदान्यस्य कदर्यस्य न मार्धुष ॥

उदार मन वाले पुरुष का अन्न श्रद्धा के कारण पवित्र होता है और कृपण का अन्न श्रद्धावाला न होने से अपवित्र होता है । इस लिए उदार सूद खोर का अन्न ग्रहण करना उचित है, परन्तु जो वेद वेत्ता होने पर भी कृपण हो उसका अन्न ग्रहण करना उचित नहीं ।

अश्रद्दधान एवैको देवानां नार्हते हविः ।
तस्मै वान्नं न भोक्तव्यमिति धर्म विदो विदुः ॥

जो श्रद्धा रहित है, ऐसा पुरुष देवताओं को बलिदान देने का अधिकारी नहीं है अतः उसका अन्न ग्रहण नहीं करना चाहिए, यह धर्म जानने वालों का मत है ।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥

हे पार्थ बिना श्रद्धा के किया हुआ हवन, दान, तप और कर्म असत् कहा गया है, ऐसा कर्म न तो इस लोक में और न परलोक में लाभ दायक होता है ।

भक्ति मार्ग में श्रद्धा के सहारे ही जीव अपना कल्याण करने में कृत-कार्य हो सकता है अतएव साधक को उचित है कि श्रद्धा के

लिए भगवान् से प्रार्थना करे, निष्काम भाव से भगवान् का भजन करे और सेवा करे। क्योंकि इस मार्ग में श्रद्धा को ही परम पवित्र माना है।

ज्यायसी या पवित्राणां निवृत्ति श्रद्धया सह।
निवृत्त शील दोषो यः श्रद्धावान्पूत एव सः॥

श्रद्धा के साथ निवृत्ति मार्ग का अवलम्ब करना पवित्र माने जाने वाली सब वस्तुओं से श्रेष्ठ है, जो पुरुष निर्दोष, शीलवान और श्रद्धालु हों, उस पुरुष को पवित्र समझना चाहिए॥

[सम्पादक]

याज्ञवल्क्य का जनक को उपदेश।

गताङ्क से आगे।

(४)

जब पुरुष निष्काम अर्थात् आप्तकाम होता है अर्थात् केवल आत्मा ही की कामना जिस को है उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते वह ब्रह्म ही होकर ब्रह्म को प्राप्त होता है यथाः—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्तेकामायेस्य हृदिस्थिताः।
अथमृतोऽमृतो भवन्त्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

जब इस के हृदय से सब विषय वासना दूर हो जाती हैं अर्थात् टूट जाती हैं तब यह मर्त्य पुरुष अमर हो जाता है और वह यहां ही ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है 'तद्यथा अहिः निर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्यास्वथैवमेवेदं शरीरं शेते' जिस प्रकार सर्प अपनी कैंचुली को छोड़ कर निर्मल हो जाता है इसी प्रकार यह ब्रह्म ज्ञानी पुरुष मुक्त होजाता है और जैसे सांप के निकलने से कैंचुली पड़ी रहती है ऐसे ही ब्रह्म ज्ञानी का शरीर भी पड़ा रहता है और किसी का पाता भी नहीं। "तथा शरीरो मृतः तेज एवसोऽहं" और यह अशरीर अमृत जीवनाधार ब्रह्म ही तेजस्वरूप है वह मैं हूं यह अपना अनुभव प्रकाश करता है पुनः ब्रह्मवित् का अनुभव यह है।

अणु पन्था विततः पुराणो,
मां स्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव।
तेन धीरा पीयन्ति ब्रह्मविद्,
स्वर्ग लोकं इत ऊर्ध्वं विमुक्ता॥

यह मार्ग जो अत्यन्त सूक्ष्म और बहुत दूर तक फैला हुआ है सब से पुराना है वह मैंने भले प्रकार पालिया जिस द्वारा ब्रह्मज्ञानी स्वर्ग लोक से ऊपर मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

तस्मिन् शुक्लमुतनीलमाहुः
पिंगलं हरितं लोहितं च॥
एष पन्था ब्रह्मणादानुवित्त,
स्तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत जैतऋश्च॥

जिस में शुक्ल नील पिंगल हरित और

लोहित वर्ण होता है वह पुरुष अपनी शक्तियों से विचित्र रूपों को धारण करता है और अन्त में ब्रह्म के द्वारा ब्रह्म को प्राप्त होता है। यह मार्ग पूर्वम ब्रह्मा ने अन्वेषण किया है 'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पुरुषः किमिच्छन् कस्य कामनाय शरीरमनु संज्वरेत।" 'चेदयं पुरुषः' यदि यह पुरुष, 'आत्मानं परमात्मानं अहमस्मीति विजानीयात्, भले प्रकार परमेश्वर को जानले कि वह मैं ही हूं वह मेरा अपना आत्मा है 'किमिच्छन् कस्य कामाय" तो क्या इच्छा करता हुवा किस कामना के लिये 'शरीर मनुसंज्वरेत्-शरीर को क्लेश से संयुक्त करे।

यस्मानुविद्य प्रतिबुद्ध आत्या-
अस्मिन् सन्देहे गहने प्रविष्टः।
स विश्वकृत् सहि सर्वस्य,
कर्ता तस्य लोकः स उ लोक एव॥

जिस में अनेक प्रकार के संशय होते हैं शुद्धान्तःकरण से उसको अनुभव करता है वही अपना आत्मा सब का कर्ता होनेसे विश्वकृत और सब सृष्टि का वह प्रकाशक है और सब सृष्टि का प्रकाश उस का है "इहैव सन्तोथ विद्मस्तद्व वयं न चेदेदीमहती विनष्टि" इहैव सन्तोय- यहां ही रहते सन्ते, वयं तद्व विद्मः- हम उसको जान सकते हैं अथ चेदेदि न-और यदि नहीं जाना गया तब तो "महती विनष्टि" बड़ी हानि होगी "एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति" जो उसको जानते हैं अमर होते हैं "यदैतदनु पश्यत्यात्मानं देव अञ्जसा ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते" यत् एतं भूतं भव्यस्य ईशानं आत्मानं देवं अञ्जसा अनुपश्यति-जो पुरुष भूत भविष्यत् और वर्तमान के साक्षी आत्मदेव को अभेद रूप से साक्षात् करता है, ततो न विजुगुप्सते-उस से वह ग्लानि को नहीं करता है। क्यों करे? किस की करे? सब अपना आपा ही होगया। यथाः-

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्व भूतेषु चात्मानं न ततो विजुगुप्सते॥

इससे वह किसी की निन्दा स्तुति नहीं करता क्योंकि निन्दा स्तुति दूसरे की होती है जब सब को अपना आपा ही पाया और अपरिछिन्न पाया तो परमानन्द प्राप्त हुआ।

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवा भूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि विजानतः एकत्वं अनुपश्यतः' जिस अवस्थामें सब प्राणि चराचर जगत् जानने वालेको अर्थात् एकत्व देखने वालेको 'आत्मा एव अभूत्-आत्मा ही होता भया 'तत्र को मोहः कः शोकः-तो वहां क्या मोह क्या शोक रहता है अर्थात् शोक मोह सम्पूर्ण नष्ट हो जाते हैं।

यस्मादर्वाक् संवत्सरोभि परिवर्त्तते।
तदेवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्हो पासते मृतम्॥

यस्मात् अर्वाक्-जिस कारण से नाणी सम्वत्सर रूप काल अपने अवयव भूत अहोरात्र के साथ ही परे हट जाता है अर्थात् अपनी गति से उसे परिछिन्न नहीं कर सकता

उसको देवता ज्योतियों का ज्योति अर्थात् सूर्यादिकों का प्रकाश जो अमर आत्मा है उसकी उपासना करते हैं पुनः वह कैसा है:-

यस्मिन्पञ्चजनाः प्राणश्च प्रतिष्ठिताः ॥
तमेवमन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥

जिसमें पाँच ज्ञानेन्द्रिय और मनप्रकाश उक्त हुआ है उसी आत्मा को मानने वाला विद्वान् ब्रह्म होकर अमर का अमर बन जाता है।

प्राणस्य प्राण मुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रम्।
मनसो यः मनोविदुः ते निचिक्युर्ब्रह्मपुराणमग्र्यम् ॥

और जो उसको प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र और मन का मन जानते हैं निश्चय करके उन्हीं पुरुषों ने सबके पूज्य शाश्वत ब्रह्म को पा लिया है अर्थात् यही बार बार अनुभव करता है कि अपना आप देश काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित अनंत अपार सुख स्वरूप ब्रह्म है। हे मुमुक्षु जनो! उसी को अपना आप बार २ चिन्तन करो नहीं तो अन्धकार के पाटों से पीसे जाओगे और चिल्लाओगे हमारी बात न मानोगे तो पछताओगे जन्म मरण के धक्के खाओगे पुनः नष्ट भ्रष्ट हो जाओगे।

मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्यु मामोति य इह नानेवपश्यति ॥

यह आत्मा ब्रह्म शुद्धमन से देखने योग्य है इस में भिन्न भाव कुछ नहीं। जो इस से भिन्न भाव देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को बार बार प्राप्त होता है।

एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्।
विरजः परः आकाशादजः आत्मा महाध्रुवः ॥

जो ब्रह्म विरज अर्थात् शुद्ध और अव्याकृत आकाश से परे अजन्मा और कूटस्थ अविनाशी है वह एक मात्र अद्वैत से ही द्रष्टव्य है अन्यथा नहीं।

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायाद्बहून्शब्दान्वाचो विग्लापनं हि तदिति

धीर ब्राह्मण को चाहिये कि उसी को जान कर अपना आपा निश्चित करे अर्थात् दानाई हासिल करे और बहुत शब्दों का अध्ययन न करे क्योंकि ऐसा करना केवल वाणी का विग्लापन अर्थात् श्रम है। "सवा एष महानआत्मा योयं विज्ञानमयः प्राणेषु यः एषोन्तरः हृदयआकाशः तस्मिन्शेते" निश्चय करके जो यह विज्ञानमय आत्मा परमात्मा हृदयाकाश में प्राणों को ओढ़ कर शयन कर रहा है "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपति स न साधुना कर्मणा भूयान् एवासाधुना कनीयानेष सर्वेश्वरः एष भूताधिपतिरेष भूतपालः एष सेतुर्विधरण एषां लोकानां सम्भेदाय" वह सब का नियन्ता और वही सब को वश में रखने वाला है। वही सबका अधिपति है। वह किसी प्रकार के पुण्य पाप से लिप्यमान् नहीं होता। वही लोकों को मर्यादा में रखने वाला सेतु रूप है। वही सर्वेश्वर है, भूतों का पति है, और चराचर जगत् का पालक है। 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिशन्ति यज्ञेन दानेन तपसा नाश-

केन एनमेवं विदित्वा मुनिर्भवति एनमेव प्रव्राजिनो लोक मिच्छन्त प्रव्रजन्ति । एतद्वसंवैतत् पूर्वे विद्वांस प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो एषां नोयमात्मायं लोक इति । ते पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति" । ब्राह्मण लोग वेदाभ्यास, यज्ञ, दान तथा तपादि कर्मों से उसके जानने की इच्छा करते हैं । क्योंकि उसी को जानकर पुरुष मुनि होता है । उसी को जानने के लिये पुरुष संन्यास लेते हैं । यह प्रसिद्ध है कि पूर्वके विद्वान् लोग प्रजा की कामना न करते हुए यह कहते थे कि यदि आत्मा की अथवा परमात्मा की प्राप्ति नहीं हुई तो हम प्रजासे क्या करेंगे । यह विचार कर पुत्रों की इच्छा, धन की इच्छा तथा लोक में मान प्रतिष्ठा की इच्छाओं को परित्याग कर संन्यासी भिक्षाटन करते थे । यदि विचार से देखा जाय तो विदित होता है कि जो पुत्रैषणा है वही वित्तैषणा है और जो वित्तैषणा है वही लोकैषणा है । इस प्रकार यह दोनोंही एषणा बनती हैं जससे यति लोग पार होकर केवल परमात्मा के अर्थात् अपने परमानन्द में मग्न रहते हैं ।

हे राजा जनक ! यह आत्मा कर्मेन्द्रियों से ग्रहण नहीं किया जाता क्षीण न होने वाला अर्थात् उपचयापचय से रहित, असंग, बन्धन रहित आनन्द स्वरूप है । कभी नाश नहीं होता इसी के साक्षात्कार से यति लोग शुक्ल तथा कृष्ण दोनों प्रकारके कर्मों से पार होजाते हैं फिर उन के चित्तमें किसी प्रकार का ताप नहीं रहता । वह किसी प्रकार के पाप से लिप्यमान् नहीं होता । आत्मवेत्ता शम दम उपरति तितिक्षा तथा समाधानादि साधनों से युक्त होकर अपने आपमें परमात्मा को और अपने आत्मा परमात्मा में सब को देखता है । "नैनं पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति । नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मानं तपति विपापो विरजो विचिकित्सो ब्राह्मणो भवति एष ब्रह्म लोकः" । उसको पाप स्पर्श नहीं करते वह सब प्रकार के पाप से पार होजाता है । उसको पाप नहीं तपाता प्रत्युत वह पापों को भस्म कर देता है । इस प्रकार वह पाप से रहित निष्काम हुआ शान्त होजाता है । फिर कोई संशय नहीं रहता । हे राजन् ! यह सर्वात्म भाव ही ब्रह्म लोक है जिसको तू प्राप्त होगया है । यह याज्ञवल्क्य ने राजा जनक को अनुभव कथन किया । तदन्तर महाराज जनक बोले कि हे भगवन् ! मैं आपके लिये विदेह देश और अपने आप को भेंट करता हूं ।

भजन ।

वैराग योग कठिन ऊधो हम न करब हौ ।टेक।
कैसे छोड़ब ऐसा देश जटा मुकुट धरब वेश ।
अंग विभूति लाय जहर खाय मरब हौ ॥ १ ॥
कैसे तजब अंग चीर मृगछाल धरब शरीर ।
सुखद सेज छोड़ भुयां कैसे पड़ब हौ ॥ २ ॥
जमना जल अति गम्भीर तनमन नहीं धरत धीर ।
कृष्ण विरह लागि बरु डूबि मरब हौ ॥ ३ ॥

एक तो दुर्बल गात दूजे लिखत विरह पात ।
सूर श्याम बिना दरश प्राण तजतहौं ॥२

२

सीता की ओर निहार लो जो थी सतवंती नारी ॥टेक
गई सङ्ग में पती के वन को,
छोड़ सभी सुख सम्पत धन को ।
कष्ट दिया अतिअपने तनको नहीं मनमें घबराई,
सब छोड़ महल अटारी ॥ १ ॥
रहती थी जो रंग महल में,
रहें टहलनी जिस की टहल में ।
नंगे पैर गई पती की गैल में,
ऐसा ही व्रत धार लो ॥
जो धारा जनक दुलारी ॥ २ ॥
हुई कानि। दुगनी सुख की,
निज परवाह करी नहिं दुःख की ।
सभी लालसा अपने सुख की,
पति के ऊपर वार दी ॥
रही सदा जो आज्ञा कारी ॥३॥
पति सेवा में चित हित दीजो,
आज्ञा भंग कभी नहीं कीजो ।
मेरा कहा मान अब लीजो,
यह कहै बहनों मुरारी ॥
जो थी सतवन्ती नारी ॥ ४ ॥

३

छवि आनी दिखाजा मुरारी हमें ॥टेक॥
यमुना के तट पर जाय के गो गो पिलाय के ।
मोहे थे तीनों लोक को वंशी बजाय के ॥
वही वंशी सुनाजा मुरारी हमें ॥ १ ॥
जाकर कदम्ब के पेड़ पर वस्त्र चुराय के ।
बैठे थे आसन मार कर मुखड़ा छिपाय के ॥
दीजे दर्शन मुरारी खरारी हमें ॥ २ ॥
बालक अवस्था बीच में माखन चुराय के ।
माता के हाथ जाय के ऊखल बंधाय के ॥
वही सूरत दिखा जा बिहारी हमें ॥ ३ ॥
माटी जो खाई आपने ब्रज भूमि जाय के ।
चौदह भुवन त्रैलोक्य को मुख में दिखाय के ॥
दीजे भक्ति में प्रीति गिरधारी हमें ॥४॥
सुनिये हे आनन्द कन्द हो ब्रजचन्द आनके ।
रक्षा हमरी कीजिये बालक जो जान के ।
दीजे भव सेती पार उतारी हमें ॥ ५ ॥

४

की जाना दम कोई रे बाबा ॥टेक॥
चिट्टी चादर उतारदे बंदियाँ पहर फकीरां दीलोई ।
चिट्टी चादर नूं दाग लगेगा लोई नूं दाग न कोई ॥
जब लग तेल दिवेमें बाती सूझत है सब कोई ।
जलगया तेल निवट गई बाती लेचल २ होई ॥
जबलग जीव पिंजरे के माही लागू है सब कोई ।
जब प्राणीने त्यागी काया काढ़ो २ होई ॥३॥
भाई बंधु अरु कुटुम कबीला मातपिता सुत जोई ।
खावन पीवन रे सब साथी संग चले ना कोई ॥४
कोई जावे कोई आवे निशदिन स्थिर रहे न कोई
रुदन करत क्या होत प्राणी कर्म लिखा सोई होई

५

तज दिये प्राण काया रे कैसे रोई ॥ टेक ॥
चलत प्राण काया कैसे रोई छोड़ चला निर्मोही ।

मैं जाना मेरे संग चलेगी याही ते काया मैंने मल मल धोई ॥ १ ॥
ऊंचे नीचे मन्दिर छोड़े गाय भैंस घर घोड़ी।
तिरया जो कुलवन्ती छोड़ी और छोड़ी पुतरन की जोड़ी ॥ २ ॥
मोटी झोटी गजी मंगाई चढ़ा काठ की घोड़ी।
चार जने तोय लेके चालें फूक दई रे फागन की सी होली ॥ ३ ॥
भोरी तिरिया रोवन लागी बिछुड़ गई मेरी जोड़ी।
कहत कबीर सुनो भाई साधो जिन जोड़ी तिन तोड़ी ॥ ४ ॥

६

कोई मोड़ो दिलाँ दी बाग नूं ॥ टेक ॥
मन समझाया समझे नाहीं,
रात दिना उठ पैंदा राही।
ढूंढत डोले स्वादा नूं ॥ १ ॥
यह मन मेरा कब्बा कहिये,
बिना हंस क्यों मोती लहिए।
मिल हंसा तज कागाँ नूं ॥ २ ॥
और किसी को दोष न दीजे,
जो कुछ बोया सो लुन लीजे।
दोष है अपने भागा नूं ॥ ३ ॥
कहे हुसैन सुनो भाई साधो,
मन मजबूत पकड़ कर बान्धो।
फिर की करो किताबां नूं ॥ ४ ॥

७

शरण प्रभु की आवोरे यही समय है प्यारे ॥टेक
छल कपट और झूट को त्यागो,
सत्य में चित्त लाओ रे।
उदय हुआ ओं नाम का भानूं,
आओ दर्शन पावो रे ॥
पान करो इस अमृत फल को,
उत्तम पदवी पावो रे ॥
हरि की भक्ति बिन नहीं है मुक्ति,
दृढ़ विश्वास जमावो रे ॥
मनुष्य जन्म अमोलक है यह,
वृथा न इसे गंवाओ रे ॥
कर लो नाम हरि का सुमरन,
अन्त को न पछताओ रे।
धन्य दया जो सब को देवे
पल, मत तुम बिसराओ रे ॥
छोटे बड़े सब मिलकर खुशी से,
गुण ईश्वर के गाओ रे।

८

तुम हो चांद मैं हूं चकोरा।
तुम हो कमल फूल मैं रस का भौंरा ॥
ज्योति तुम्हारी का मैं हूं पतंगा।
आनन्द घन तुम हो मैं वन का मोरा।
जैसे है चुम्बक की लोहे से प्रीति।
आकर्षण करे मोहि लगातार तोरा ॥
पानी बिना जैसे हो मीन व्याकुल।
ऐसे ही तड़फाय तेरा बिछोड़ा ॥
इक बूंद जलका मैं प्यासा हूं चातक।
अमृत की करो वर्षा हरो ताप मोरा ॥

प्रार्थना ।

दयार्द्र हो दयालु दासता विनाश कीजिये,
मिटा प्रमाद शान्ति का विमल प्रकाश दीजिये ।
विमोह वश न हम कभी स्वदेश का अहित करें,
परोपकार के लिये प्रसन्न चित्त हो मरें ।
यहां स्वतन्त्रतार्क की नवीन ज्योति जगमगे,
अनीति नाव न्याय सिन्धु में निराश्रय डगमगे ।
सुवीर भूमि वीर भूमि फिर बने जहान में,
पराजिति हारिणी बने स्वदेश समुत्थान में ।
समष्टि प्रेम में सदा समोत प्रोत हम बहें,
बचे प्रपंच जालसे सुमार्ग पर डटे रहें ।
न देश शत्रु भी बने स्वदेश में हमें कभी,
हो कष्ट भले ही हमें न कष्ट हो उसे कभी ।
जीवन परोपकार मय पवित्र पूत बनाइए,
कृपालु हो कृपा अबोध जनों पर दिखाइए ।
पथ में निराश्रयी बना न भूलना हमें प्रभो,
हम भूल जांय तदपि तुम हमें न भूलना प्रभो ॥

प्रार्थना ।

हे प्रभो अशरण शरण सद्ज्ञान हमको दीजिये,
हम निर्बलों को दिव्य बल दे सबल सक्षम कीजिये ।
दीजिये वर हर समय हम देश सेवा रत रहें,
देश हित दुःख के प्रहारों को सुमन सम हम सहें ।
स्वार्थ में बीते न क्षण परमार्थ जीवन सारहो,
सोते सजग हर दशा में मन विषय देशोद्धार हो ।
सेवा व्रती बनकर सभी तव भक्ति अधिकारी बनें,
ब्रह्मचारी सदाचारी वीर व्रतधारी बनें ।
दल जांय अर्बुद दिव्य हिमगिरि पर न हम पीछे हटें,

कट जांय सिलसिले बुद्धि हो सन्मार्ग पर नित हम डटें,
यह है तभी सम्भव प्रभो जब तव कृपा की कोर हो,
हां विश्व रूप विराट् के कर विश्व शासन डोर हो।
तम पूर्ण दिशि घन गर्जना वर्षा व बादल से गिरे,
भव जलधि में ले तरणि नर २ हे प्रभो हम चल पड़ें।
आप के ही हाथ हमको पार प्रभो पहुंचाइए,
परम पितु सन्तान को स्वातन्त्र्य मार्ग दिखाइए॥

११।

मैं श्याम को ढूंढन निकसी मुझे श्याम डगर बतलाओ।
मैं श्याम के प्रेम की प्यासी मुझे प्रेम की प्यास मिटाओ॥ टेक॥
मन भ्रमरा वन केलि कुंज वन में अलियन कलियन भटके।
पापी पपीहा प्यु प्यु करके श्याम २ नाम बोलेरे॥ १॥
श्याम नाम कैसो मीठो है कानन में रस घोरे रे।
अरे श्याम श्याम नाम बोले रे॥ २॥

१२।

सुन्दरि राधे आवे बनी, ब्रज रमणी गण मुकुट मणी॥ टेक॥
कुंचित केशिनि निरुपम वेशिनि रसिया वेशिनि संगिनिरे।
अधर सुरंगिनि अंग तरंगिनि रंगिनि नव नव संगिनिरे॥ १॥
कुंजर गामिनि मोतिमदाशनि दामिनि चमक निहारीनिरे।
अभरणि धारिणि जग चित हारिणि श्यामर हृदय विहारिनिरे॥ २॥
नव अनुरागिनि अखिल सुहागिनि पंचम रागिनि सोहिनि रे।
रास विलासिनि हास विकाशिनि गोविन्द दस चित मोहिनि रे॥ ३॥

१३।

भगवन् तुम्हीं बतादो किसकी शरण गहें हम।
तज कर जगत् पिता को किससे विथा कहें हम॥ टेक॥
भव सिन्धु है अपार मुझे न सार पारा।

तेरे बिना सहारा मझधार में बहें हम ॥ १ ॥
हा जगत आह कल २ पछताये हाथ मल मल ।
अब कल पड़े न पल २ मन मार कर रहें हम ॥ २ ॥
मानो नहीं सुनो हा फिर सोचलो हृदय की ।
ये धमकियां कहां तक कहदो भला सहें हम ॥ ३ ॥

कुछ अनुभूत प्रयोग ।

कच्चीबेल की गिरी का चूर्ण सम-भाग मिश्री मिला ३-३ मासा शहद में मिला दिनमें तीन बार खाने से निश्चय रक्तातिसार दूर होता है । जो शहद न खाना चाहें वे शर्बत अंजीर से सेवन करें ।

रसौतमें आठवां हिस्सा अफीम मिला, चांगेरी (खटकल) के रस में एक दिन खरल करके १ माशे की गोली बना कर छाया में उन गोलियों को सुखा लेवे । इतसाल करते १ गोली लेकर चांगेरी के रस में पीस कर रोगी को देवे यह गोली रक्तातिसार (खूनीदस्त) प्रवाहिकातिसार (पेचिस मरोड़ा) तथा अनेक प्रकारके अतिसरों को दूर करनेमें अमोघ शक्तिरखती है । यह अनुभूत है रसौत को शुद्ध करलेना, और मात्रा रोगी तथा रोगकी अवस्थानुसार घटा बढा सकते हैं ।

नीलाथोथा १ भाग, सफेद राल ४ भाग दोनों को खूब रगड़ पीस तिल तैल में डाल दे, चिकना महीन बना कर फिर बहुत जल उसमें यत्न पूर्वक डाल देवे जब फूल सा उठने लगे तब मथ कर दूसरे बर्तन में धर कर पानी से भरदे इस मल्लहम को व्रण पर लेप करने से शीघ्र सब घाव क्षय होजाते हैं ।

नोट-मल्लहम को लगा कर ऊपर से कपड़े का टुकड़ा लगा कर पानी से तर रक्खे।

एक सेर बड़वे तैल को कढाई में डाल कर गरम करो जब तैल खूब गरम हो जावे, तो उस में एक तोला नीला थोथा के चूर्ण को धीरे २ चुटकी देकर जलादो बाद को तैल को उतार कर ठंडा करो और उसमें १ सेर सत्यानासी का स्वरस डाल कर पकाओ इस तैल का मृदुपाक करना चाहिए किसी भी प्रकार के शस्त्रादि के लगने से रक्त बहता हो इसकी पट्टी लगादेने से रक्त बन्द होता है किसी भी प्रकार से पैदा हुए दूषित व्रण इस से नष्ट होते हैं ।

हीरानन्द ब्रह्मचारी ।

निम्न लिखित महानुभाओं ने भक्ति के संरक्षक बन कर भक्ति को अपनाने की कृपा की है।

१. राय साहब श्री बल्लभ प्रसाद जी रईस आनरेरी मजिस्ट्रेट गुलजारबाग, पटना १०१)

२. राव बहादुर, कप्तान राव बलवीर सिंह जी ओ. बी. ई. रामपुरा ५१)

३. श्रीमान् राय भाई गनेशीलाल जी आरमी मिनिस्टर अलवर राज्य ५१)

४ राव श्रीराम रईस नांगल २५)

५. म० शोभाराम जी इंगरवास २५)

६. चौ० धर्मसिंह जी मलिक, तहसीलदार रेवाड़ी २५)

७. राव निहालसिंह जी सूबेदार पाल्हावास २५)

८. बा० स्वयम्बरदास जी बी० ए० इन्स्पेक्टर आफ स्कूल्स पटना यू० पी०। २५)

९. श्रीमती रानी निहालकोर धर्मपत्नी ले० राव बहादुर बलवीरसिंह जी ओ० बी० ई० जागीरदार रामपुरा रेवाड़ी। २५)

सहायक।

१. पं० मूलचन्द जी प्रेसीडेंट म्यूनिस्पल कमेटी पलवल। ११)

२. श्रीमती उमरावकोर धर्मपत्नी राव जगमालसिंह जी रईस नांगल ११)

३. महाशय शादीराम जी मस्तापुर, रेवाड़ी। ५)

४. बा० ब्रजलाल जी शिरस्तेदार डाईरेक्ट सेक्रेटरी आफिस संगरूर, जींद। ५)

बिना गुरु के सिद्धान्त कौमुदी।

भाषाफक्किका प्रकाश ॥

इस पुस्तक में बहुत ही सरल भाषा में तथा प्रश्नोत्तर के रूप में सिद्धान्त कौमुदी की गूढ़ फक्किकाओं को समझाया गया है। विद्यार्थियों के बड़े लाभ की पुस्तक है इस से विद्यार्थी लघु पढ़ कर स्वयं सिद्धान्त कौमुदी पढ़ सकते हैं। मूल्य केवल ॥)

ज्ञानधर्मोपदेश।

इस छोटी सी पुस्तक में वेद शास्त्र तथा धर्म का सार संगृहीत है और वेदान्त की उत्तम कविताओं का संग्रह है। मूल्य -)॥।

वेदोपनिषत्।

इस पुस्तक में ईश, बृह, केन, मुण्डक, और माण्डूक्यादि उपनिषदों तथा वेदों के उत्तम २ मन्त्रों का अर्थ सहित संग्रह है। मूल्य ।-)

अष्टोत्तरशतमन्त्रमाला।

इस पुस्तक में गीता और उपनिषदों से १०८ बहुत ही उत्तम श्लोकों का संग्रह है। यह नित्य पाठ करने की पुस्तक है। मूल्य -)।

भगवद्गीता संस्कृत तथा भाषा टीका सहिता।

इस पुस्तक में प्रथम मूल है तत्पश्चात् अन्वय तथा सरल संस्कृत में प्रत्येक मूल के पर्याय है फिर सरल हिन्दी भाषानुवाद है। यह गीता के जिज्ञासु तथा कथकड़ों के बहुत ही लाभ की पुस्तक है पृष्ठ संख्या ४२६ होने पर भी हमने भक्त जनों के हितार्थ मूल्य केवल ॥=) ही रक्खा है शीघ्रता कीजिये केवल १००० ही प्रतियाँ हैं जिन के अति शीघ्र ही निकल जाने की आशा है।

सत्य शब्द संग्रह।

इस पुस्तक में महात्माओं की उत्तम २ वाणियों का संग्रह है। वेदान्त विषय की उच्च कोटि की कवितायें कवित्त तथा सवैये हैं। अन्त में विचार सागर है। यह भक्त जनों के नित्य पाठ की बड़ी ही उत्तम पुस्तक है मूल्य ।=)

मुद्रक तथा प्रकाशक भूमानन्द ब्रह्मचारी "भक्ति प्रेस" आश्रम रामपुरा रेवाड़ी।